❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ३ — अङ्क ३

Year 3 — Number 3

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर उ० प्र०

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) — एक अँक का १)

प्रकाशक:—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूचीः—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय — भक्ति		२
३—कर्म	समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी, फतेहगढ़	११
४—अभ्यासी का कर्तव्य	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र	१३
५—भजन	चरनदास मिशन	१७
६—अनन्त यात्रा		१८
७—रूहानियत की राह में	"शैदा"	२३
८—अमर ज्योति	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	२४
९—शून्यता की दशा	कुमारी केसर चतुर्वेदी एम० ए० एल० टी०	२८
१०—जागरण	श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव एम० ए०	३१
११—प्रार्थना	अथर्ववेद से उद्धृत	३२
12–Misery-Its beginning & end	*Shri Ramchandra Ji, President S. R. C. M.*	*33*
13-Sahaj Marga-Latest Research in Yoga	*Shri Ishwar Sahai*	*36*
14–The Reality of Yoga	*Shri Raghavendra Rao*	*44*
15-Indian Philosophy & Modern Psychology	*Dr. K. C. Varadachari, M. A., Ph. D.*	*47*
16–Experiences of an Abhyasi	*An Abhyasi*	*59*

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत :

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो।)

वर्ष ३ / Year 3] अश्विन शाकाब्द १८८१, सं० २०१६ विक्रमी September–October 1959 [अङ्क ३ / No. 3

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

[श्री राम चन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीयः-

भक्ति

चरम लक्ष्य की प्राप्ति के सर्व श्रेष्ठ साधन के रूप में 'भक्ति' को स्वीकार करने के बाद यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि उस के वास्तविक स्वरूप का निरूपण कर लिया जाये। मानवता के साँस्कृतिक इतिहास में 'भक्ति' की विकृतियों ने जाने कितना उत्पात और अन्धकार पैदा किया है। वास्तव में यह सारी प्रकृति का ही नियम है कि उस के क्षेत्र में जो वस्तु जितनी ही श्रेष्ठ है, उसकी विकृति उतनी ही भीषण परिणाम वाली होती है।

'भक्ति' की विकृति का मूल स्रोत उस का अन्धापन है। वास्तविक 'भक्ति' तो अनासक्ति उत्पन्न करती है, अतः व्यक्ति की किसी भी 'तृष्णा' के साथ उस का लगाव नहीं होता; उस का तो उद्देश्य ही समस्त तृष्णाओं को समाहित कर देना होता है। अपने विकृत रूप में 'भक्ति' किसी वैयक्तिक तृष्णा की तृप्ति का साधन बनी रहती है। इस स्तर की 'भक्ति' दूसरों को या स्वयं अपने को धोका देने का साधन होती है। यह प्रवञ्चना मात्र होती है; इसे वास्तव में 'भक्ति' कहना ही अनुचित है।

विकृत 'भक्ति' संस्कार-शून्यता उत्पन्न कर के स्व-निर्मित विवशताओं से मुक्ति प्रदान करने के बदले स्वयं बन्धन निर्माण करने लगती है। अविद्या-जन्य सकाम कर्म विवशता के बन्धन का निर्माण करते हैं; अविद्या-जन्य 'भक्ति' भी वास्तव में इसी प्रकार का कर्म बन जाती है। इसी प्रकार की 'भक्ति' के विरुद्ध महात्मा बुद्ध ने चेतावनी दी थी, कि 'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना उस की उन्नति के उद्देश से अनेक कर्म-काण्ड में प्रवृत्त होना उसी प्रकार भ्रामक, व्यर्थ और हास्यास्पद है जैसे कि किसी ऐसी कल्पित

सुन्दरी के प्रति आसक्त होना, जिसे कभी देखा सुना न गया हो। श्री रामानुजाचार्य ने भी इसी बात पर बल देते हुए अपने 'इष्ट' से उस की "अनुभूति-संभूत-प्रीति" से उत्पन्न 'कैंकर्य' (दासता) की याचना परम-गति के रूप में की है :—

"तवानुभूति—संभूत—प्रीति—कारित—दासताम् ।
देहि मे कृपया, नाथ ! न जाने गतिमन्यथा ।।"

वास्तव में यही 'भक्ति' का आदर्श है। वास्तविक 'भक्ति' में दो बातें नितान्त आवश्यक हैं :—

(१) उसका आधार वास्तविक 'अनुभूति' होनी चाहिए।

(२) उस का परिणाम प्रियतम 'इष्ट' के प्रति पूर्ण समर्पण होना चाहिए।

'वास्तविक अनुभूति से उत्पन्न 'भक्ति' के विषय में एक कठिनाई की ओर इंगित किया जा सकता है। भक्ति परम-स्थिति के वास्तविक स्वरूप का प्राप्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन है, अतः वह स्वयं वास्तविक अनुभूति से कैसे उत्पन्न हो सकती है ? वास्तविक अनुभूति तो भक्ति का परिणाम होगी। यदि वास्तविक अनुभूति पहले ही हो जाये, तो फिर साधन के रूप में भक्ति की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी ? इस कठिनाई पर विचार करने से 'भक्ति' का मनोवैज्ञानिक स्वरूप और भी स्पष्ट हो जाता है। 'भक्ति' का सीधा अर्थ 'मानसिक' लगाव' (Mental attachment) है, और उस के अनेक स्तर हो सकते हैं। सर्व प्रथम किसी उद्देश के प्रति 'मानसिक लगाव' (i) 'कुतूहल' (Curiosity) के रूप में हो सकता है। फिर यह कुतूहल (ii) 'तड़प' (longing) के रूप में विकसित हो सकता है। और अन्त में उद्देश की प्राप्ति हो जाने पर उसके प्रति अनन्य (iii) प्रणति (devotion) पैदा हो सकती है। इसी 'प्रणति' का चरम विकसित रूप 'शरणागति' या 'प्रपत्ति' (Absolute Surrender) है। वास्तव में 'मानसिक लगाव' के सतत विकास-क्रम में सहस्त्रों चरण (Steps) हो सकते हैं, जिन को मोटे तौर पर उपर्युक्त तीन

चार वर्गों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। 'मानसिक लगाव' का यह विकासात्मक चित्र तनिक भी रहस्यात्मक नहीं है। कोई भी साधारण विचार शील व्यक्ति अपनी किसी भी साधारण असक्ति के अनुभव का विकासात्मक विश्लेषण कर के इसका सत्यापन कर सकता है।

साधना के क्षेत्र में वास्तविक 'भक्ति' को वास्तविक 'अनुभूति' से उत्पन्न होने पर बल देने का अभिप्राय केवल इतना है कि वास्तविक बल उद्देश की निश्चितता और सुस्पष्टता पर होना चाहिए, भले ही प्रारम्भ में उस के प्रति मानसिक लगाव केवल कुतूहल के रूप में ही क्यों न हो। सहज-मार्ग साधना के मूल दस सिद्धान्तों में तीसरा सिद्धान्त उद्देश की निश्चितता और सुस्पष्टता पर विशेष बल देता है। वास्तव में मानव संस्कृति के विकास-क्रम में उसी प्रकार की 'भक्ति' ने उत्पात और अंधकार उत्पन्न किया है, जो उद्देश की सुस्पष्टता पर आधारित नहीं रही। एक ओर 'ईश्वर' या 'परम पद' का बहाना लेकर अन्य स्वार्थों की सिद्धि के लिए धर्म के नाम पर ऐसे लोगों ने अत्याचार किये हैं, जिन के मन में उस 'परम पद' या 'ईश्वर' के वास्तविक स्वरूप के साथ कुतूहल के रूप में भी 'मानसिक लगाव' नहीं था; केवल अन्धे की तरह कुछ स्वीकार कर के अपने या किसी दूसरे व्यक्ति के स्वार्थों की सिद्धि में संलग्न रहे। इस प्रकार की बेईमान धार्मिकता या आस्तिकता की अपेक्षा ईमानदार अधार्मिकता और नास्तिकता कहीं अधिक श्रेष्ठ है। दूसरी ओर 'परम पद' के उद्देश पर से दृष्टि हट गई और 'भक्ति' अर्थात् 'मानसिक लगाव' के आनन्द दायक रागात्मक पक्ष (affective aspect) के ही प्रति आसक्ति उत्पन्न कर ली गई, और उसी को 'परम-गति' समझने का भ्रम पैदा कर के 'भक्ति' की बदनामी की गई। इस कोटि की 'भक्ति' स्वार्थान्धता का छद्म मात्र है। मध्य-युग की सन्त-साधना में इस प्रकार की 'भक्ति' के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। वास्तविक 'भक्ति' का स्वरूप आद्योपान्त आत्म-विस्मृति-मूलक है; अतः जो 'भक्ति' किसी भी रूप में आत्म-संवित्ति (Self-Consciousness) और स्वानुरक्ति (self attachment) को

सुदृढ़ बनाती है, वह 'भक्ति' की विकृति मात्र है।

अब वास्तविक 'भक्ति' के इस मनोवैज्ञानिक स्वरूप को ध्यान में रख कर इस समस्या पर विचार करें कि 'भक्ति' का विषय (object) कौन होना चाहिए। इस समस्या का उत्तर तो वास्तविक 'भक्ति' का मनोवैज्ञानिक स्वरूप निर्धारित करते समय ही मिल चुका है कि जो 'भक्ति' उद्देश की सुस्पष्टता पर आधारित नहीं है, उसे वास्तविक भक्ति नहीं कहा जा सकता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भक्ति' का वास्तविक विषय वह 'अन्तिम उद्देश' या 'परम पद' ही है, जिसे हमें प्राप्त करना है। इसी 'परम पद' का नाम धार्मिक शब्दावलि में 'परमात्मा' (God) और धर्म-निरपेक्ष (Secular) शब्दावलि में 'पूर्णत्व' (Perfection) है। वास्तव में यह आध्यात्मिक सफ़र का आख़िरी मुकाम है, या दूसरे शब्दों में अपने विकास की अन्तिम हालत है, जिसकी प्राप्ति का पहला ज़ीना 'मोक्ष' है। इसका संकेत 'मोक्ष' पर विचार करते समय दिया जा चुका है कि वास्तविक उड़ान तो पंख खुलने के बाद ही प्रारम्भ होती है।

इस 'परम पद' के विषय में विस्तृत विचार फिर कभी होगा। यहाँ पर तो मुख्य प्रश्न उसके प्रति 'मानसिक लगाव' का है। वह हमारे अपने ही विकास की चरम अवस्था होते हुये भी उस सब से परे हैं, जिस का हमें ज्ञान है। अतः उसके प्रति 'मानसिक लगाव' पैदा करने में केवल एक सावधानी की आवश्यकता है कि उस को जैसा वह है वैसा पाने का संकल्प किया जाये, न कि अपनी ही किसी कल्पना को उस के रूप में प्रतिष्ठित कर के उस के प्रति आसक्ति पैदा की जाये। प्रारम्भ में हमें कुछ न कुछ वस्तु या विचार अवश्य भावात्मक रूप में लेना पड़ेगा, किन्तु हम सदैव यही ध्यान रखें कि उस का वास्तविक स्वरूप हमें प्राप्त होना है। उदाहरणार्थ यदि हम उसे 'प्रकाश' (Light) के रूप में ग्रहण करते हैं, तो यह ध्यान रखें कि उस प्रकाश के स्थान पर किसी अन्य प्रकार के प्रकाश को दृढ़ता पूर्वक प्रतिष्ठित न कर लें, किन्तु वह 'प्रकाश' स्वयं जैसा कुछ है, उस के प्राप्त होने की प्रतीक्षा करें। यही बात 'शान्ति', 'आनन्द', 'ज्ञान', 'प्रेम' आदि सभी गुणों पर लागू होती है; और 'गुण रहित-अवस्था' के बारे में तो फिर कहना ही क्या! वास्तव में इन सभी

के एक न एक स्वरूप से हमारा परिचय हमारी साधारण मानसिक स्थिति के अनुसार रहता है, और उसी को उस का अन्तिम स्वरूप मान बैठने की भूल हमें ले डूबती है, और उपासना के विकृत रूपों को जन्म देती है, और वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव हो जाती है ।

'मानसिक लगाव' के विषय के रूप में इस प्रकार का कोई सूक्ष्म गुण या सूक्ष्मतम 'शून्य' आदि को ग्रहण करना पग पग पर विभ्रम उत्पन्न कर के वास्तविक लक्ष्य से विपरीत दिशा में ले जाने वाला तो है ही, साथ ही इस प्रकार का 'मानसिक लगाव' पैदा होना और स्थिर रहना भी साधारणत: सहज नहीं है । 'ज्ञान' के प्यासे सच्चे वैज्ञानिक और दार्शनिक विरले ही होते हैं । यही बात 'आनन्द' 'प्रेम' आदि के भी विषय में कही जा सकती है । व्यक्ति के 'मानसिक लगाव' का स्वाभाविक विषय तो 'व्यक्ति' ही होता है । अत: एक और सहज विधि किसी ऐसे 'व्यक्ति' के प्रति 'मानसिक लगाव' पैदा कर लेना है, जो स्वय उस 'परम-पद' अर्थात चरम स्थिति को प्राप्त कर चुका हो, उदाहरणार्थ 'बुद्ध', 'कृष्ण' आदि । 'परमात्मा' का वैयक्तिक स्वरूप वास्तव में 'मानव की महानता का परिचायक है; आस्था के इस रुप में मानव की गरिमा का आशावादी महाकाव्य विकसित हुआ है ।

किन्तु 'पुरुषोत्तम' को भक्ति के विषय के रुप में ग्रहण करने में भी उसी सावधानी की अपेक्षा है, जो 'परमात्मा' के गुणातीत अथवा सगुण स्वरूप के बारे में आवश्यक है । चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक भक्ति 'पुरुषोत्तम' के वास्तविक रूप के प्रति होनी चाहिए, न कि स्वयं अपनी मानसिक संरचना के अनुसार गढ़े हुये रूप के प्रति । यहां भी खुले हुए चित्त की ग्रहणशील अभिवृत्ति (Receptive attitude) ही सहायक होती है, और 'उपास्य' के वास्तविक स्वरूप में लय अथवा फना होने की प्रक्रिया द्वारा उसका अधिकाधिक स्पष्टीकरण होता जाता है ।

'पुरुषोत्तम' के वास्तविक स्वरूप के स्पष्टीकरण में भी कठिनाई आ जाती है । एक तो उससे वास्तविक परिचय और सम्पर्क न होने के कारण उस के प्रत्येक स्वरूप के निर्धारण में अनुभव की अपेक्षा

कल्पना का ही प्रधान हाथ रहता है, जिसको वास्तविक अनुभव मान बैठने की सम्भावना सदैव बनी रहती है । दूसरे वह अपने भौतिक-अस्तित्व की समाप्ति के बाद व्यक्तियों के 'मानसिक लगाव' का साधारण अर्थ में स्वाभाविक विषय भी नहीं रह जाता । 'पुरुषोत्तम' के प्रति 'मानसिक लगाव' अधिकांश उससे भी अधिक और हीन कोटि की विकृति पैदा कर देता है जैसी कि 'आनन्द' 'शान्ति' इत्यादि गुणों के बारे में पैदा होती है । 'पुरुषोत्तम' का वास्तविक महत्व तो 'सद्गुरु' के रूप में सबसे अधिक होता है । 'पुरुषोत्तम' 'परमात्म पद, में स्थित होता है, अत: उस स्थिति के अनुरूप विकसित इच्छा-शक्ति द्वारा अपने में अनुरक्त व्यक्तियों को उसी 'परमपद' की प्राप्ति में सहायता पहुँचाता है । भौतिक अस्तित्व समाप्त हो जाने पर इस प्रकार की ऋजु (Direct) सहायता कर सकना उतना सहज नहीं रह जाता, क्योंकि उस स्थिति में उस के प्रति वास्तविक अनुरक्ति बनाये रखना किसी बिरली 'मीरा', किसी बिरले 'बुझे दीपक के पतङ्गे' के लिये ही सम्भव हो पाता है ।

इन सभी कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक और सहज विधि 'सद्गुरु' को ही भक्ति के विषय के रूप में अपना लेना है । यह विधि सूफ़ियों में भी बहुत प्रचलित रही है । 'सद्गुरु' मानसिक लगाव का सब से अधिक स्वाभाविक विषय है । किसी भी साधारण विषय के विद्यार्थी को अपने योग्य गुरु से 'मानसिक लगाव' अपने आप पैदा हो जाता है; और यह 'मानसिक लगाव' जितना ही अधिक वास्तविक और तीव्र होता जाता है, उतना ही अधिक गुरु का ज्ञान, बल्कि व्यक्तित्व अपने आप निरन्तर शिष्य में उतरता आता है । व्यावहारिक विषयों में उदाहरणार्थ 'संगीत' 'वास्तु कला' आदि में तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है । फिर अध्यात्म के विषय में तो कहना ही क्या ! यह तो सम्पूर्ण मानव के सतत प्रगतिशील सपरिवर्तन (Continuous Transformation) की ही विद्या है, अत: गुरु के विकसित व्यक्तित्व की डोर का ही सहारा लेकर यह सफ़र आसानी से तै किया जा सकता है । योग्य 'सद्गुरु' के प्रति 'मानसिक लगाव' अर्थात 'भक्ति' जितनी ही तीव्र और स्वाभाविक होती जाती है, उतना ही अधिक 'सद्गुरु' का

विकसित व्यक्तित्व अपने आप शिष्य में उतरता आता है, और जहाँ तक सद्गुरु की पहुँच है, वहां तक शिष्य भी अपने आप बढ़ता चला जाता है। व्यक्तित्व के इस आदान प्रदान की प्रक्रिया को पारिभाषिक शब्दों में 'लय' या 'फ़ना' होना कहा जाता है। सूफ़ियों में इस 'फ़नाइयत' के तीन दर्जे (Stages) माने गये हैं—(१)फ़नाफ़िल्शैख़ अर्थात् 'सद्गुरु' में 'लय' होना; (२) फ़नाफ़िल्रसूल अर्थात् पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद रसूल में 'लय' होना; और (३) फ़नाफ़िल्लाह अर्थात् ईश्वर या परमात्मा में 'लय' होना। सहज-मार्ग-साधना के अन्तर्गत इन दर्जों को अलग करने पर बल नहीं दिया जाता। वास्तव में 'फ़नाइयत' या 'लय-अवस्था' कोई रहस्यात्मक वस्तु नहीं; यह तो व्यक्तित्व के प्रगतिशील संपरिवर्तन (Transformation) की प्रक्रिया का पारिभाषिक नाम मात्र है। अत: 'सद्गुरु' में 'लय अवस्था' प्राप्त कर लेने से व्यक्तित्व का संपरिवर्तन उस सीमा तक होता जाता है, जहां तक 'सद्गुरु' के व्यक्तित्व का संपरिवर्तन हो चुका है। हाँ, यह अवश्य है कि यदि 'सद्गुरु' स्वय 'पुरुषोत्तम' या 'परमात्मा' में 'लय-अवस्था' प्राप्त नहीं कर चुका है, तो उसकी हालत में 'लय' प्राप्त करने के बाद शिष्य को उच्चतर स्थिति प्राप्त करने के लिए दूसरे 'सद्गुरु' की खोज करनी पड़ेगी; और एक सच्चा 'सद्गुरु' अपने श्रेष्ठ शिष्य को ऐसा करने से रोकने के बजाय ऐसा करने के लिए प्रेरित करेगा। सद्गुरु और सत्शिष्य के इस सम्बन्ध में भी कोई रहस्य की बात नहीं। प्राइमरी स्कूल का गुरू यदि अपने प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य को प्राइमरी कक्षायें उत्तीर्ण करने के बाद अन्य गुरु के पास जाने के लिए प्रेरित नहीं करता, तो सच्चे अथ में वह गुरू कहलाने का अधिकारी नहीं; और यदि डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त कर लेने वाले शिष्य के हृदय में प्राइमरी कक्षाओं के अपने गुरु के प्रति आदर और श्रद्धा में कोई कमी आ जाती है, तो सच्चे अर्थ में वह शिष्य डी० लिट्० की उपाधि के योग्य नहीं।

साधना के क्षेत्र में 'सद्गुरु' के प्रति 'भक्ति' के इस महत्व पर बल देते हुये कुछ सावधानियाँ नितान्त आवश्यक हैं:—

(१) चूँकि 'भक्ति' स्वभाव से ही 'लय' उत्पन्न करने वाली है, अत: 'सद्गुरु' की परख अत्यन्त आवश्यक है, विशेषत: ऐसे युग में

जब कि एक ओर शिष्य के समक्ष सुस्पष्ट अन्तिम उद्देश नहीं रहता, बल्कि कोई न कोई वैयक्तिक स्वार्थ उसे रहस्यपूर्ण अध्यात्म की शरण में जाने के लिए प्रेरित करता है; और दूसरी ओर इस रहस्यात्मक अन्वेषन का लाभ उठा कर यत्र तत्र अनेक स्वार्थी व्यक्ति 'सद्गुरु' की उपाधि ग्रहण कर के 'गुरु-भक्ति' के नाम पर अपने प्रतिभा-सम्पन्न शिष्यों को भी प्रगति के मार्ग में बाधा प्रस्तुत कर के 'अन्धा अन्धों को मार्ग दिखाये' कि लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं। यदि 'गुरु' में दुर्गुण हैं, तो वह अपने आप उस शिष्य में भी आयें गे, जो उस की 'भक्ति' द्वारा उस में 'लय-अवस्था' प्राप्त करता है। अत: सद्गुरु की परख अत्यन्त आवश्यक है, और सच्चे सद्गुरु की सच्ची परख तभी हो सकती है, जब शिष्य के सामने लक्ष्य स्पष्ट हो, और उस उद्देश के प्रति उस का 'मानसिक लगाव' हो। अत: यहाँ भी सब से पहली चीज़ उद्देश की सुस्पष्टता और उस के प्रति वास्तविक 'मानसिक लगाव' पर बल होना चाहिए। ऐसा होने पर स्थायी रूप से शिष्य किसी धूर्त 'सद्गुरु' नाम धारी के धोखे में नहीं रह सकता।

(२) 'सद्गुरु' के वास्तविक रूप को ही 'सद्गुरु' के रूप में ग्रहण करना चाहिए। कबीर ने 'पुरुषोत्तम' के उपासकों को चेतावनी दी है:—

एक 'राम' दशरथ घर राजै, एक 'राम' घट घट में छाजै।
एक 'राम' का सकल पसारा, एक 'राम' सब जग से न्यारा॥

यह चेतावनी इसी रूप में 'सद्गुरु' के उपासकों को भी याद रखनी चाहिए, क्यों कि ऊपर कहा जा चुका है कि 'पुरुषोत्तम' का भी वास्तविक महत्व 'सद्गुरु' के ही रूप में है। यदि 'पुरुषोत्तम' की स्थिति तक पहुँचा हुआ 'सद्गुरु' अनुभव के वास्तविक स्तर पर उपलब्ध नहीं, तो विगत 'पुरुषोत्तम' से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास आवश्यक हो जाता है, जैसे कि स्कूल की सुविधा प्राप्त न होने पर प्राइवेट विद्यार्थी बनने के लिए विवश होना पड़ता है,

यद्यपि असल और नक़ल में अन्तर रहे गा ही । अनुभव के वास्तविक स्तर पर 'पुरुषोत्तम' बल्कि 'परमात्मा' की स्थिति तक पहुँचे हुये 'सद्गुरु' को पा कर भी यदि उस के वास्तविक स्वरूप में लय-अवस्था न प्राप्त हो पाई, किन्तु स्थूल तक ही दृष्टि और 'भक्ति' सीमित रह गई तो 'गंगा में रहने वाले मेंढक' या 'ऋषि के मत्थे पर बैठी मक्खी' की ही कहावत चरितार्थ हो कर रह जाती है । हां, यह अवश्य है कि यदि 'सद्गुरु' वास्तविक अर्थ में सद्गुरु है, तो उस के बाह्य रूप से ही 'मानसिक लगाव' रखने वाले को भी कुछ लाभ अवश्य होता है, और उस के स्खलन का तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता । किन्तु इस चेतावनी को ध्यान में रखने से सच्चे 'सद्गुरु' के सम्पर्क में आने वाले साधक क आध्यात्मिक विकास का पारावयां तो बहुत अधिक बढ़ ही जाती हैं, किसी धूत 'सद्गुरु' नाम धारा के जाल में फँस जाने वाला साधक भी आध्यात्मिक बिकास की दृष्टि से अत्यधिक हानि से बचा रहता है, क्योंकि इस चेतावनी पर दृष्टि रखने वाले के सामने आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य तो किसी न किसी रूप में निरन्तर मौजूद ही रहता है ।

अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि साधना के क्षेत्र में दो बातें नितान्त आवश्यक हैं ।

(।) लक्ष्य की सुस्पष्टता और उस के प्रति वास्तविक 'भक्ति' ।

(।।) अन्तिम लक्ष्य के प्रतीक 'सद्गुरु की प्राप्ति ।

पत्रिका के अगले अङ्क में वास्तविक 'सद्गुरु' के ही स्वरूप पर विचार किया जाएगा ।

—सम्पादक

कर्म

(समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़)

(गताङ्क से आगे)

जिन में इस हालत का प्रारम्भ हो गया है, वह तो मनुष्यों के वर्ग में आ जाते हैं, नहीं तो उन को भी पशु समझना चाहिये, और वह सब के सब अभी तक पशुता के ही क्षेत्र में हैं ।यदि इन मनुष्यों की गति-विधि[1] को देखा जाये तो पता लग जायेगा कि जो कुछ पशु करते हैं, वही ये भी करते हैं ।

नर पशु, गुरु पशु, त्रिया पशु, वेद पशू संसार ।
मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार ।।

अर्थात् मनुष्य के उपासक, गुरु के उपासक, नारी के उपासक और वेद के उपासक-सबके सब इस संसार में पशु ही हैं । मानव वह हैं जिनमें विचार और चिन्तन की योग्यता है । जो लोग कि अपनी और ईश्वर की हैसियत न समझकर ईश्वर को अपनी नहीं, किन्तु ईश्वर की नज़र से पूजते हैं, ईश्वर उनके लिये विष्णु की हैसियत छोड़ कर रुद्र रूप बन कर रुलाता रहता है । और जो लोग अपनी और देवता की हैसियत न समझ कर देवता को अपनी नहीं बल्कि देवता की नज़र से पूजते हैं, देवता उनको बोझा ढोने का जानवर बना रखते हैं । बल्कि जो लोग अपनी और गुरु की हैसियत न समझकर गुरु को अपनी नहीं, किन्तु गुरु की नज़र से पूजते हैं, गुरु उनके लिये काल रूप अर्थात् शैतान-सिफ़त[2] हो जाते हैं, और दयालु रूप को छोड़ कर उनकी कमाई हड़पते और उनको

1-activity and movement २-शैतान के गुणों वाले

पशु बना कर रखते हैं । ऐसे लोगों की निजात[३] नहीं, हमेशा पशु के पशु ही बने रहते हैं, जब तक कि दुःख और कष्ट भोग कर दिली उभार के साथ मानवता के इस्तहक़ाक़[४] के अधिकारी नहीं होते; और कहीं देर में जा कर यह हालत होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट आया है: याज्ञवल्क्य जी ने अपनी पत्नी मैत्रेयी जी को समझाया है कि 'जो बृह्म, ईश्वर, वेद ··· ··· आदि को अपनी नहीं, किन्तु उन की नजर से जानते हैं, ब्रह्म, ईश्वर, वेद ··· ··· आदि उन्हें बर्बाद कर देते हैं

योग का उद्देश केवल हृदय की एकाग्रता और मन के घाट और मुक़ाम बदलने का तरीक़ा है । दिमाग़ के अन्दर आध्यात्मिक स्थानों पर केन्द्र बना कर दिल के स्थिर करने से उसके सम्बन्ध में अपने आप अनुभव जाग जाता है, और असलियत की समझ आ जाती है ।

यह जीव कर्मी और शरई[५] हैं । यहां तक ही उनकी हैसियत है । कर्म कितने प्रकार के हैं, और उन में से किस प्रकार के कर्म का शुभाशुभ फल है और किस किस का नहीं ?

सृष्टि के कर्म अर्थात् प्रकृति के नियम के अनुसार जीवों के दो कर्म हैं जिन के लिए न शुभ फल है, न अशुभ । उन का उद्देश केवल गति (हरकत) चिन्तन (ग़ौर) और आनन्द (राहत) है, और वह जीवों के तीन देहों से सम्बद्ध हैं ।

जीव वास्तव में आत्मा और बृह्म हैं, जिन का गुण (१) गति (हरकत) के साथ सोचना और सोचने के साथ हरकत करना, और [२] सोचते हुए बढ़ना और बढ़ते हुए सोचना है ।

(क्रमशः)

५–धार्मिक अथवा नैतिक नियम (Religions and ethical Gode)
३–मुक्ति ४–अधिकार (Privileges)

अभ्यासी का कर्त्तव्य

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

जन्म अष्टमी २६ अगस्त को है । और यह एक ऐसा दिन है कि हमें ईश्वर के ध्यान में दिन बिताना चाहिये । मिशन में इस दिन व्रत रखना आवश्यक है । अक्सर निकट रहने वाले तो हमारे यहाँ इस दिवस पर आ जाते हैं, और जो नहीं आ पाते तो घर ही पर याद करते हैं । इस ग़रीब का दरवाजा सब के लिए खुला हुआ है । जिसकी इच्छा हो सेवा ले सकता है । सेवक को सेवकाई से मतलब है, और यह कि ईश्वर की बार बार याद दिलाता रहे । यह उनके ऊपर है, जिनकी वह सेवा कर रहा है, कि वे अपनी विचार–धारा ईश्वर की तरफ लगायें या न लगायें । अगर लगाते हैं तो हर रोज उनको नई जीवनी मिलती रहेगी । और उस हालत में उनको यह विश्वास भी हो जावेगा कि उनकी सेवा ठीक हो रही है । और अगर नहीं लगता है तो उनके यह समझ में तो नहीं आता कि उनकी विचार की धार ईश्वर की तरफ नहीं लगी' बल्कि यह समझते हैं कि सेवक सेवकाई ठीक नहीं कर रहा है । और यह अधिकतर ऐसे लोग कहते हैं कि जो अपने आप को देखते हैं, और अपनी ही तरफ रहते हैं । और ईश्वर की तरफ तबियत को नहीं फेरते । अगर हमारी तबियत "मालिक" की तरफ फिर जावे, और अपनी ओर से हट जावे, तो फिर बताइये वह क्या चीज़ है, जो हमारी तरफ नहीं आ रही है ।

अब दूसरी बात पर आता हूँ । "सेवक" सेवक ही रहेगा, और "मालिक" मालिक, ही । और वह ईश्वर जिसको अपनी ओर आकर्षित कर ले वही उस तरफ पहुँच जाता है, और उसकी तवज्जह (निगाह) तभी हमारी तरफ हो सकती है, जबकि हम उसका हक़ छीनने की चेष्टा न करें । बल्कि हम यह देखते रहें कि हमारा धर्म

और कर्त्तव्य क्या है। और उसी का पालन करते रहें। और यही चीज़ हमें दुनियादारी के कामों में भी करना चाहिए। और आपस में यह नहीं देखना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति हमारे साथ अपना कर्त्तव्य अदा कर रहा है या नहीं। बल्कि हमको अपना कर्त्तव्य उस के साथ अदा करना चाहिए। यह चीज़ अगर हम में पैदा हो जावे जिसके लिए दुआ करनी चाहिये, तो फिर किसी से शिकायत नहीं रहती। हम को शिकायत तो तब होना चाहिए कि जब हम अपना कर्त्तव्य दुसरों के साथ अदा न करें। कृष्ण भगवान ने गीता में कहा हैं।

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'

(Better one's own Duty though destitute of merit)

कितनी अच्छी बात हो अगर हम अपनी ऐसी आदत बनालें कि दूसरों के ताने और खफगी (नाराजगी) को यह समझ लें कि यह कसूर हमारा ही है, तो तबियत को कितनी तसल्ली मिलेगी, क्योंकि ऐसी हालत में आप उसके शब्दों को ग्रहण नहीं करते, और उसकी चीज़ उसी के पास रह जाती है, जो उसकी खुद सज़ा है। इसे कोई करके तो देखे कि तबियत को कितना चैन मिलता है।

एक बात जरूरी कहना और रह जाती है। वह यह कि अभ्यासी अक्सर कहते हैं कि हमें कुछ मालूम ही नहीं होता। मैं कहता हूँ कि अपनी सामर्थ्य भर सब को मालूम होता है। अपने चित्त पर गौर करके देखें, बहुत सी अवस्थाएँ ऐसी आती हैं कि जिनके व्यक्त करने के लिए शब्दों की जरूरत होती है। और शब्द हमारे पास तभी हो सकते हैं, जबकि हमने खूब पढ़ा हो और शब्दावली बढ़ गई हो। हर शब्द में कुछ न कुछ अन्तर होता है। जैसी चीज़ सामने आवे वैसा ही शब्द उसके लिए होना चाहिए। मिसाल के तौर पर मैं लिखता हूँ कि बाग (Garden) के लिए फारसी भाषा में दस शब्द हैं, जो मुझे मालूम हैं। और हर एक में अन्तर है। जैसा बाग हम देखते हैं उस के लिए वैसा ही शब्द होना चाहिए। दूसरे यह कि अनुभूति या अहसास उसी वक्त अच्छा खुलता है जब कि हम अपने आप को उस तरफ लगाये रखें, और साथ ही

ईश्वर का भी ध्यान रहे। एक बात यह भी है कि इसको आप मेरी खता (दोष) समझें कि मैं इतनी सुक्ष्म गति की तवज्जेह देता हूँ कि जो बहुत दिनों अभ्यास करने के बाद देने के लायक है। मेरा मतलब यह होता है कि जल्दी से काम बनता चले। दुख वह है कि इस का नतीजा यह होता है कि लोग नाकाबिल समझने लगते हैं।

हम जब ईश्वर-मार्ग पर चलते हैं तो हमारी हालतें जरूर बदलती है, अगर आज शांति है, तो उसकी सुक्ष्म गति कल आवेगी। और कभी सुक्ष्म होती है, कभी उस से जरा भारी गहरी सुक्ष्मता होती है। जब सुक्ष्मता में Matten या प्रकृति का वेग हो जाता है, तब अभ्यासी बहुत खुश होता है। और उसकी अनुभूति में भी यह चीज़ आती है, और वह अपनी हालत अच्छी समझता है। जब ज्यादा सुक्ष्म हालत होती है और समझ में नहीं आती तो वह समझ लेते हैं कि हमारा सिखाने वाला मदद नहीं कर रहा है। हालाँकि इस गति में ही आना है। अचम्भा होता है कि हलुआ खिलाने से लोग नाखुश हों और चने चबाने से खुश हों। सहज-मार्ग की तालीम में मैंने अक्सर कहा है कि मैं असल रूप में देने से मजबूर हूँ, इस लिए कि उस में अशांति की अधिकता रहेगी। इस लिए कि गड़े दबे संस्कार सब सतह पर खींच लाना होंगे। और ऐसी हालत में लोग कहेंगे कि इस से तो हम बिना पूजा के अच्छे थे।

अब सौ बात की एक बात यह है कि अभ्यासी शाँति की खोज में रहते हैं, ईश्वर की खोज में नहीं रहते, इस लिए उन्हें शिकायत रहती है। यह क्यों है? अपनापन और अपने को खुश करने के लिए अपना स्वार्थ सामने रहता है, और उतनी देर तक ईश्वर अलग। किसी ने क्या अच्छा कहा है।

जब हम थे तब गुरु नहीं, जब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहिं॥

एक काम की बात मैं और लिखता हूँ। मैं लय-अवस्था या ब्रह्म-लीनता पुकार पुकार कहता हूँ कि प्राप्त करो। मगर भाई, मेरा

बस कुछ नहीं चलता । इस लिए कि अभ्यासियों को बहुत सी बातें ब्रह्म विद्या के सम्बन्ध में सोंचने का समय मिलता है । जब इन बातों को आपने समय दे दिया, तो विचार धारा इस तरफ उतरी हुई है, और वह ज़ोर जो ईश्वर की तरफ लगना चाहिए था उस में कमी पड़ गई । और अभ्यास द्वारा जो शक्ति आपने प्राप्त की थी वह आपने सोचने और समझने में लगा दी । अब सिखाने वाला हर तरह से दोषी है, मगर अभ्यासी किसी तरह से दोषी नहीं, इस लिए कि वह तो यह चाहता है कि हकीम (वैद्य) अपनी नब्ज खुद देखे और दवा खुद खाये और रोगी को लाभ हो । और भाई यह ठीक भी है । अगर सिखाने वाला शक्तिमान हो तो अभ्यासी का मुख ईश्वर ही की तरफ फेरे रखे । मगर इस के लिए मुझे कहना यह है कि श्री कृष्ण भगवान ने दुर्योधन को समझाया और उसने कहा 'यह सब अच्छी बातें हैं मगर मेरी तबियत नहीं मानती'। आखिर को श्री कृष्ण भगवान को मार-काट ही करानी पड़ी । तो हर व्यक्ति की तबियत कैसे बदली जा सकती है, जब कि उसके संस्कार उसको बुरा समय दिखाने के लिए उतर चुके हैं । अब अगर कोई शक्ति पैदा हो जावे कि उन संस्कारों को जला सके तो भी वह ऐसा न करेगा, जब तक कि ईश्वर का हुक्म इस चीज़ के लिए न हो जावे, इस लिए कि संस्कारों को जला देना, ईश्वर के नियम के विरुद्ध है ।

अब मैं लय-अवस्था को फिर लेता हूँ, कि असल लय अवस्था क्या है और ब्रह्म-लीनता किस को कहते हैं ! आप हँसेंगे, अगर सही बात आपको बता दूं, मगर सही बात कहना ही चाहिए- और न मानने वालों को उनका तजुरबा स्वयं बता देगा, अगर ईश्वर उनको यह हालत प्रदान कर दे । लय अवस्था की तारीफ यह है कि उस में अपना कुछ न रहे-बल्कि जिस महफिल में जावे, जैसे शादी या मृत्यु में किसी के शरीक हो तो उसकी हालत खुशी और रंज (दुख) की वैसी ही होनी चाहिए जैसी उस महफिल या घर वालों की है, और जब वहाँ से वापस हो तब जैसा का तैसा हो जाये । यह फकीरी नहीं होगी कि किसी का बच्चा मरे और हम

खुश के खुश रहें । इसको निर्दयता कहेंगे, और फकीरी इस से कोसों दूर है ।

कभी इन बातों पर गौर करके तो देखो, तब पता चलेगा मैं कहाँ तक ठीक हूँ । यह जरूर है कि अगर कोई किसी से बुरी बात हो जाती है, तो मैं अधीनताई के रूप में यही मान लेता हूँ, कि यह मेरी ही कमजोरी है । मगर ज़रा ठण्डी तबियत से विचार करो कि क्या यह अभ्यासी का धर्म नहीं है कि वह अपने character (सदाचार) को ऊँचा बनावें । हमारे गुरू महाराज पुकार पुकार कहते थे कि character बनाना और सदाचार सम्भालना अभ्यासी का परम कर्त्तव्य है । और इसकी ज़िम्मेदारी बिलकुल अभ्यासी पर है ।

—एक अभ्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धृत

—☺❀☺—

भजन

टुक रंग महल में आव ,
कि निरगुन सेज बिछी ॥१॥
जहँ पवन गवन नहिं होय ,
जहाँ जा सुरति बसी ॥२॥
जहँ त्रैगुन बिन निरबान ,
जहाँ नहिं सूर — ससी ॥३॥
जहँ हिलमिल कै मुख मान ,
मुकुति की होय हँसी ॥४॥
जहँ पिय — प्यारी मिलि एक ,
कि आसा दुई नसी ॥५॥
जहँ चरनदास गलतान ,
कि सोभा अमित लसी ॥६॥

—चरनदास

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म–विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो अध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही हैं। —सम्पादक]

(पत्र संख्या २७)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

कृपा–पत्र आपका मिला–पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ। ईश्वर की कृपा से आप मुझे मिल गये इसलिए मुझे ऐसा पत्र देखने को मिल गया नहीं तो मैंने आज तक कभी ऐसा पत्र न देखा और न सुना है। मैंने अगले पत्र में लिखा था कि एक ग़रीब मनुष्य केवल अपनी ग़रीबी के सिवा और क्या दे सकता है परन्तु बाबू जी, इस ग़रीबी पर तो सचराचर–विश्व की सम्पत्ति न्यौछावर है। आपने यह ठीक ही लिखा है कि ग़रीबी की दशा के लिये लोग तरसते चले गये हैं परन्तु मेरी समझ में यह दशा मिशन के लोगों पर किसी न किसी दिन अवश्य आक्रमण करेगी। क्यों कि जब स्वतः ही इसमें अपनी पूँजी 'मालिक' के पास अर्पित होने लगती है तो फिर अपने पास कुछ नहीं रह जायेगा। ऐसे धन का छीनना भी शास्त्र के विरुद्ध नहीं होगा वरन् ऐसे दुखियों का उद्धार होगा जो व्यर्थ के झूठे झंझटों में पड़े हुये स्वयं ही अपने को घोर दुःख के सागर में डुबकियाँ लगवाते हैं। वास्तव में जहाँ देना लेना सभी

समाप्त हो जावे वही सच्चा सुख है। मेरे पूज्य बाबू जी, आपने यह पत्र ही नहीं लिखा वरन् इस के बहाने बहुत ही सुन्दर एवम् प्रभावोत्पादक–उपदेश इस दीन बालक को प्रदान किया है। मैंने तो कुल सार यही पाया कि अपना सर्वस्व उसी ईश्वर के हाथों बेच डाले।

किसी समय मेरा यह विचार अवश्य था कि 'वह अमानतदार' बहुत दूर है परन्तु अब तो न जाने क्यों 'वह' स्वयं ही इतना निकट ही नहीं किंतु रोम रोम में, नस नस में भिद सा गया है। 'वह' न कभी दूर था, न दूर रहेगा हाँ जब तक दूरी का विचार था तब तक ही दूर था। परम स्नेही श्री बाबू जी, आपके पत्र का उत्तर लिख पाना तो असभव ही है। हाँ अब आपकी अपने को छिपाने की चेष्टा बिल्कुल बेकार है। आपके आशिर्वाद एव कृपा से मैं ऐसा बनने का प्रयत्न व प्रार्थना अवश्य करूँगा। कल ऐसे ही ईश्वर से प्रार्थना करने लगा तो 'उसकी' याद करते ही ऐसी मस्ती की दशा हो गई कि कुछ भी माँग न सका। क्या बताऊँ मेरी तबियत मेरे पास से ऊबकर न जाने कहाँ चली गई है। अब तो आपकी कृपा एवं पूज्य···· ····के परिश्रम से इधर दो, ढाइ महिने से सोते, जागते चौबीसों घटे ऐसा लगता है मानो Sitting लेकर उठा हूँ। जबसे शाहजहाँपुर से आया हूँ तब से आज तक एक मिनट भी Sitting से खाली नहीं गया है। आज प्रयत्न करके मन को ध्यान से हटाकर कुछ टूटे फूटे शब्दों में आपको पत्र लिखा है। अब तो मेरे 'मालिक' ने मुझे मोल ले लिया है। अब तो अपनेपन का भान ही नहीं रहता है और चीज़ स्वयं ही आकर स्थिर होती जा रही है। यही नहीं, स्वयं अपने द्वारा भी 'उसी' को काम करते हुये देखता हूँ। जो कुछ भी मैंने लिखा है ईश्वर जाने, जो 'उसकी' मर्जी हुई वही लिख दिया है। मैं तो मानों अब 'मालिक' की मशीन हो गया हूँ। जिधर चाहता है घुमा देता है। मैं भला वैराग्य, लय–अवस्था और ईश्वर–दर्शन को क्या समझूँ। हाँ आपके कृपा–पत्र से हृदय को थोड़ी झलक अवश्य मिल गई है। जब से आपके पास से आया हूँ दशा और अच्छी हो गई है। बस मैंने तो आपका ही पल्ला

पकड़ लिया है और नौकर तो आपका मैं हो ही चुका हूँ। अब कभी कभी यह शक हो जाता है कि मैं भला 'मालिक' से प्रेम भी करता हूँ या नहीं ? जीवन में बहुत सरलता सी आगई है। इति।

आपकी दीन सतान

.....

(पत्र संख्या २८)

पूज्य तथा श्रद्धेय 'बाबू जी'

सादर प्रणाम।

मेरा पत्र मिला होगा। जब से मैंने पिछला वाला पत्र भेजा है तभी से शायद आठ-नौ दिन से आत्मिक-दशा में एक बात और हो गई है। वह यह कि बहुत अधिक हल्की और सरल हो गई है। जैसा कि मैंने पहले लिखा था कि हमेशा ऐसा ही लगता है कि Sitting ले रहा हूँ, किन्तु अब तो Sitting लेते वक्त भी यह नहीं मालुम पड़ता है कि Sitting ले रहा हूँ। कुछ अजीब सरलता सी आगई है। पूज्य.....ने कहा है कि अच्छी दशा है, परन्तु मुझे बहुत अच्छी भी नहीं लगती है, और तबियत इस से हटना भी नहीं चाहती है। अब तो मैं उस सर्वशक्तिमान के हाथों बिक चुका हूँ और 'उसने' मुझे खरीद भी लिया है। आपकी आज्ञानुसार अपनी जीवनी लिखना आरम्भ कर दिया है और लेख भी लिखना प्रारम्भ कर दिया है।

आपकी दीन हीन संतान

.....

(पत्र संख्या २९)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय 'श्रीबाबू जी' को,

सादर प्रणाम।

आपके शुभागमन से हम सब धन्य होगये, कि 'जिनके' आते ही वायुमंडल में सुख, शान्ति, और पवित्रता की धारायें बहने लगीं।

पूज्य बाबूजी, आप इसकी कोई फिक्र न करें, ईश्वर की कृपा से आपकी चीज 'सहज-मार्ग' का इतना प्रचार होगा और शीघ्र होगा जितना कि किसी अन्य का संभव भी नहीं हो सका है। मुझे तो आप ऐसा ही आशिर्वाद एवं अनुग्रह दें कि जिससे आपकी सेवा में तन, मन, धन सब ही न्यौछावर कर सकूँ। दशा तो मेरी आप स्वय जानते हैं क्यों कि मेरी कलई तो मालिक पर खुल चुकी है। 'तू' ही मैं है और मैं ही 'तू' है ऐसी दशा है। अब तक तो मैं ही जड़ मशीन की तरह काम करता था परन्तु अब तो सभी लोग मुझे 'मालिक' की मशीन की तरह काम करते दिखाई देते हैं। सच में कुछ ऐसी दशा होगई है कि :—

दर, दिवार, दरपन भये, जित देखूँ तित 'तोय'।
काँकर, पाथर, ठींकरी, भये आरसो मोय॥

बिल्कुल एक सी दशा है, न किसी काम में अधिक प्रसन्नता ही होती है और न कुछ दुःख ही मालुम होता है। पहले सुना करता था कि ईश्वर अहेतुकी कृपा वाला है, परन्तु अब तो स्वयं अपने पर अजमा भी लिया है।

जब से आप गये हैं तब से Nothingness की सी दशा बहुत बढ़ गई है परन्तु कल पूज्य.....की Sitting के बाद से तो एक क्षण को भी इससे अलग ही नहीं होता हूँ। जाने कैसे सब काम मेरे द्वारा पूरे हो जाते हैं क्यों कि मेरे तो कोई विचार ही नहीं आते। पूज्य बाबू जी, यह सब आपका ही दिया हुआ है, मेरे कुछ नहीं है। सदा इस दीन पर ऐसी ही कृपा बनाये रखियेगा।

आपकी दीन, हीन, सन्तान

.....

(पत्र संख्या ३०)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

पत्र आपका पूज्य.....के लिये आया-पढ़कर प्रसन्नता हुई।

स्वास्थ्य खराब होने के कारण शीघ्र उत्तर न दे सका, क्षमा कीजियेगा। प्रार्थना मिशन की उन्नति के लिये आपकी आज्ञानुसार करना आरम्भ कर दी है। सेवा में यह तन, मन सभी उपस्थित है, जब जैसी चाहिये, सेवा लीजियेगा। अपने स्वास्थ्य की काफ़ी चिन्ता रखता हूँ, परन्तु पूर्व संस्कारों से लाचार हूँ। इस लिये कुछ न कुछ तक़लीफ़ हो जाती है, इसकी कोई चिन्ता नहीं। मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि आपके चरणों का आश्रय पाकर इस घोर संसार–सागर में डुबकियाँ लगाने वाले मानवों का उद्धार होगा।

'मैं' हूँ सो 'तू' है, 'तू' है सो मैं हूँ' लिखने के मेरे केवल इतने ही माने थे कि ईश्वर में और स्वयं मुझमें यह भेद नहीं मालुम पड़ता था कि सब काम मैं करता हूँ या 'वह', यानी बिल्कुल एकता सी लगती थी। दोहे के माने यह थे कि हर चीज़ में, हर मनुष्य में केवल एक मात्र ईश्वर ही ईश्वर दिखलाई पड़ता है।

मेरे पूज्य श्री बाबू जी, मैंने सकोचवश आपको एक दशा नहीं लिखी, वह अब पूज्य·····की आज्ञानुसार लिख रहा हूँ। न जाने क्या बात हो गई है कि आपसे तथा पूज्य·····से जब Sitting लेने बैठता हूँ और अब भी जब बैठता हूँ तो बजाय Sitting लेने के ऐसा मालुम पड़ता है कि मैं ही आप लोगों को दे रहा हूँ। आप का पत्र मिलने के दूसरे या तीसरे दिन ऐसे ही बैठा था कि इतने में एकदम से ऐसा मालुम पड़ने लगा कि सब में मैं ही व्याप्त हूँ। यहाँ तक की स्वयं आप में तथा पूज्य·····में भी मुझे ऐसा ही मालुम पड़ता था कि मानों मैं ही हूँ। यह दशा अब तो दिन भर में अक्सर ही हो जाती है। मैंने प्रयत्न किया कि तबियत ऐसी न होने पाये परन्तु मैं असफल हो गया। आपके पत्र मिलने के बाद दशा और भी बदल गई है परन्तु अभी तक मैं इसे पहचान नहीं पाया हूँ। हाँ तबियत हलकी और अधिक हो गई है।

परम स्नेही श्री बाबू जी मैंने सुना है कि आप·····मार्च से छुट्टी लेकर tour पर जाने वाले हैं। कृपया अपनी पावन चरण–रज से हमें धन्य करने तथा आत्मोन्नति प्रदान करने की अवश्य कृपा करें।

मेरी आपसे करबद्ध यही प्रार्थना है कि जाने के पूर्व आप चार, पाँच दिन को यहाँ भी अवश्य पधारें। पूज्य····· व हम सब की यही प्रबल इच्छा व प्रार्थना है। सभी लोग आपके दर्शनों को उत्सुक हैं।

आपकी दीन, हीन, संतान

.....

(क्रमशः)

रूहानियत की राह में

दर्दे–दिल को बढ़ाये जाते हैं,
दुनिया अपनी मिटाये जाते हैं ॥१॥
शौक़े–दुनिया व मशग़ले सारे,
दामन अपना छुड़ाये जाते हैं ॥२॥
ग़म पे ग़म गो कि हो रहे नाज़िल,
फिर भी हम मुस्कराये जाते हैं ॥३॥
बहरे–हस्ती में रह के भी ग़रक़ाब,
ख़ुश्क दामन बचाये जाते हैं ॥४॥
हमको दैरो–हरम से क्या मतलब,
बुतकदा दिल बनाये जाते हैं ॥५॥
बेख़ुदी या ख़ुदी ख़ुदा मालूम,
ख़ुद ही ख़ुद में समाये जाते हैं ॥६॥
बहरे–वहदत में लापता होने,
क़तरा, दरिया बनाये जाते हैं ॥७॥
राहे–हक़ की अदा निराली है,
दिल को वीराँ बनाये जाते हैं ॥८॥
जुस्तजूए – हक़ीक़ते – ख़ुद में,
राज़े – हस्ती मिटाये जाते हैं ॥९॥
उफ़, मये–इश्क का असर ! ज़ाहिद,
साक़ी तक लड़खड़ाये जाते हैं ॥१०॥
यार के दर की राह पर 'शैदा',
सारे अरमाँ लुटाये जाते हैं ॥११॥

—'शैदा'

अमर ज्योति

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

किसी ने द्वार थपथपाया
किन्तु उत्तर न मिला ।
एक बार, दो बार, तीन बार

किन्तु कोई उत्तर न आया । हार कर बैठ गया और सुस्ताने लगा कि अंदर से कुछ गुनगुनाहट सुन पड़ी कि "आओ प्रीतम खोलो द्वार" ।

स्वर मौन था किन्तु परिचित था । पुनः उठा और टहलने लगा । झाँक कर उसे देखने का प्रयत्न किया । चारों ओर से छिद्रों की खोज की । उसके दर्शन के बिना अधीर जो था बेचारा । न जाने कब से बिछुड़े थे प्रियतम और प्रियतमा । कितनी साध थी उससे मिलने की । कैसे कैसे मनसूबे बाँध कर चला था बेचारा ।

किन्तु यहाँ ?

दृश्य ही दूसरा था । वह बन्दिनी थी और कारागार के सींखचों में मुँह दिये खड़ी थी । किसी के आगमन की प्रतीक्षा में आँखें लाल थीं । मुख उदास था कि थपथपाहट सी सुन पड़ी । कान खड़े हो गये और मन की सारी एकाग्रता उसी थपथपाहट के एक बार पुनः सुन पड़ने की बाट जोहने लगी । देखते २ वह इतनी लीन हो गई कि उसे अपनी दशा का भान ही न रहा । क्यों कि चित्त की सारी वृत्तियाँ थपकी के स्वर में प्रायः लय-लीन सी हो चुकी थीं । अचानक स्वरों ने बरबसता की, और वे मुख खोल कर उन सीकचों से टकराने लगे । स्वर क्या थे पुजारिन की हृदय-पुकार थी जो उस के हृदय को मथ कर गूँज उठी थी "आओ प्रीतम खोलो द्वार" ।

पुजारिन की तल्लीनता भरी रागिनी ने कारागार के सात पर्दों में भी दरार कर दी थी और उसी के द्वारा द्वार पर खड़े उसके प्रियतम की थकान मिट चुकी थी और वह स्वस्थ होकर उसी द्वार पर मुँह लगाये खड़ा था । उनको अलग करने वाले थे कारागार के वे सप्त-द्वार; और उनको मिलाने वाली थी पुजारिन की एक मात्र तल्लीनता, जो उन लोहे के द्वारों में भी दरार कर चुकी थी ।

एक अस्फुट ध्वनि उसके हृदय पर टकराई कि कहीं हम लोगों को कोई देख न ले । ऐसा हृदय में आते ही सहसा विचारों की लड़ी सी जुड़ गई । उसका जी घबराने लगा । वह भाग कर आँखें मूँद कर चारपाई पर पड़ रही । कुछ देर बाद ही उसकी आँखें झपकने लगीं । विभिन्न विचारों की मानों लटें सी बँध कर उसके मुख पर बिखर गईं ।

वह भी खड़ा खड़ा आहट लेता रहा किन्तु मौन के साम्राज्य में, और दूसरों की दृष्टि में पड़ने के भय ने उसे आहट मिलने का अवसर ही न दिया । वह लौट चला अपने स्थान को ।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रातः समीर मन्द २ गति से बहने लगा था । ऊषा की किरणों में अरुणाई आने लगी थी । पक्षियों की सुमधुर चहक ने कोकिल-कंठों को भी पराजित सा कर दिया था । पपीहा की पी पी की रट ने कारागार की दीवारों के अंतर में प्रवेश करके उसके हृद-तन्त्री के तारों में अस्थिरता सी उत्पन्न कर दी थी, जिससे अनजान में भी वही संगीत-लहरी बह निकली "आओ प्रीतम खोलो द्वार" ।

सुन्दरी ने अँगड़ाई लेकर नेत्र खोल दिये मानों कमल की मुस्कराहट ने मधु बिखेर दिया हो । न जाने क्यों उसे कुछ सूना सूना सा लग रहा था ।

अचानक किसी की चोट से व्यथित सी होकर अथवा किसी के स्मरण रूपी प्रहरी का स्वर पहिचानते ही वह व्यथित सी होकर उठ बैठी और टहलने लगी । नित्य-कर्मों से निवृत होकर शीघ्रता

से सीकचों पर जा लगी ।

वह बंदिनी जो थी । आह की गर्म श्वासों से उसने अनुभव किया कि वहाँ कोई पहले से ही उपस्थित था । उसके हृदय में उठते ज्वार-भाटे ने द्वार पर खड़े प्रियतम को यह जता दिया था कि वह आगई । और वह उपस्थित था ।

वह युगों से बंदिनी थी । माता, पिता, स्वजन, स्नेही उससे मिलने आते थे किन्तु उस तक समाचार ही न पहुँचता था । उसने भी उन सबके मोह में पड़ कर उन द्वारों को ममता-जनित शक्ति से तोड़ना चाहा था जिसके फल स्वरूप वह एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः करके अब सात द्वारों के भीतर कारागार में बन्द कर दी गई थी ।

❀ ❀ ❀ ❀

आज से पाँच वर्ष पूर्व एक दिवस नीचा सिर, उदास और भींगा मुख लिए बैठी थी । सुना कि कोई कह रही थी "बंदिनी क्या मुक्त होना चाहती हो ?"

"हाँ" एक आशा और निराशा मिश्रित स्वर था ।

"क्यों ?"

"अपने देश जाऊँगी ।"

"वहाँ तुम्हारे कौन कौन हैं ?",

"माता हैं, पिता हैं, स्वजन, सम्बन्धी सभी का तो दुलार है ।"

"और ?"

मुख लज्जा के आवरण से ढँक गया । वह चुप हो रही ।

युवती ने वह लाज का आवरण उसके मुख पर से हटाया तो हठात् उसके मुख से निकल ही तो पड़ा—

"प्रियतम"

"तो फिर उससे ही क्यों नहीं कहती कि तुझे इस कारागार से निकाल कर देश ले जाये ?"

बस तभी से बेचारी बंदिनी सींकचों में मुख दिये अपने "प्रीतम" को बुलाया करती है-"आओ प्रीतम खोलो द्वार" । और सच ही तो उसकी आह से खिंचा प्रीतम उसके द्वार पर खड़ा था ।

❀ ❀ ❀ ❀

यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा कि सबेरे शाम सींकचों में मुख देकर उसका खड़ी हो जाना, और द्वार पर अपनी पुकार होने से पहले ही किसी का उपस्थित रहना, और निःस्तब्धता में भी बार २ द्वार थपथपाना । उससे विरह सहा नहीं जाता था ।

प्रयास निष्फल नहीं जाते । बहुत दिनों तक रस्सी की रगड़ से पत्थर में भी लकीर बन जाती है । प्रयत्न करने पर चंदन में से भी अग्नि उत्पन्न हो जाती है । फिर हृदय तो हृदय ही है ।

वह बेचैन था और वह तड़पती थी । अश्रुओं की धार ने लोहे के द्वारों की नींवों को भी शिथिल कर दिया था । अंतर-पट झीने पड़ने लगे । विरहिणी का प्रकाश विरही तक पहुँचने लगा और उसकी छाया उसमें स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी ।

दोनों ने दोनों को पहचान लिया । विरहिणी केवल विरहिणी नहीं किन्तु सुहागिन बन चुकी थी । पवित्र आनन्द का स्रोत उसके हृदय में फूट चुका था, जो उसके हृदय के उफनते हुये समुद्र पर भी कगार बना चुका था ।

वह मस्त थी । मर कर भी जीवन पा चुकी थी । उसकी ज्योति अमर हो चुकी थी ।

क्यों ?

क्यों कि वह अमर जो था ।

और वह ?

वह उसकी ज्योति जो थी ।

इस रूपक में प्रयोग किये गये प्रतीक निम्नाङ्कित हैं :—
प्रियतम, अमर=परमात्मा; बन्दिनी, ज्योति=जीवात्मा; कारागार और उसके सप्त द्वार=अहंता (Egoism); प्रियतम को पुकारने की सलाह देने वाली=सहज-मार्ग-साधना ।

शून्यता की दशा

(कुमारी केसर चतुर्वेदी एम० ए० एल० टी०)

'सूरदास काली कामर पर चढ़ै न दूजो रंग'

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस पंक्ति के अनेक प्रयोगों को सुनते सुनते यह एक साधारण सी कहावत लगने लगी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार अपने ज्ञान की परिधि में इसका प्रयोग करने लगा है परन्तु महाकवि सूर ने इसके द्वारा किस सत्य की अभिव्यंजना की थी अथवा इस उक्ति के अंतस की गंभीरता व वास्तविकता क्या है, इसका ज्ञान सहज मार्ग के साधना-पथ पर अग्रसर होने पर ही ज्ञात हो सकता है तथा संसार के लिए अंधे सूर के हृदय-नेत्रों की तीव्र ज्योति का अनुमान भी सहज मार्ग में आने पर ही हो पाता है।

वास्तव में साँसारिक क्षेत्र में काली कमली पर दूसरा रंग चढ़ना तो असंभव है ही, अध्यात्मिक क्षेत्र में भी यह उक्ति शाब्दिक अर्थों को छोड़ कर अपने आंतरिक अर्थों में गहन दशा की सूचिका है। ईश्वर की ओर उन्मुख होने पर साधक को 'काली कमली ही बनना पड़ता है अन्यथा वह कभी भी ईश्वर में पूर्ण लय अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता। संसार क्या कहता है अथवा क्या विचार करता है, इस ओर से कान बंद करके ही साधक परमशान्ति का अनुभव कर सकता है। जब तक साधक को इसका विचार रहता है कि दूसरा मेरे लिए क्या कहता है अथवा क्या विचार करता है तब तक वह कभी भी अपने ध्येय पर नहीं पहुँच सकता। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है—'दुनियाँ क्या कहेगी, मुझपर कोई हँसेगा आदि दुर्बल विचारों को न आने देकर अपने को जो उचित लगे

वैसा काम सदैव करना चाहिये। यही सारे जीवन का रहस्य है।, अतः साधक को सब ओर से नेत्र बंद कर इस सुन्दर शान्तिप्रदायक पथ पर अग्रसर होना पड़ता है। महायोगिनी मीरा को भी तो 'कुल की कानि' छोड़ कर इस ओर चलना पड़ा था। वह तो महारानी थी अतः उनके लिये तो इस पथ पर पग बढ़ाना और भी दुष्कर कार्य था परन्तु ईश्वर से मिलने की तड़प और लगन ने उनसे लोक-लाज के बंधन तुड़वा दिये। इन बंधनों से मुक्त होकर ही अविरल गति से वह इस अनोखे पथ पर चल कर अपने 'प्रियतम' से मिल सकी और 'प्रिय मिलन' के अपूर्व सुख का अनुभव कर सकी। प्रेम में छकी गोपिकायें संसार की ओर से दृष्टि हटा कर ही अपने 'प्रियतम' श्री कृष्ण पर सर्वस्व अर्पण कर सकी थीं, अतः जबतक साधक के हृदय में दृढ़ता इष्ट से मिलने की आतुरता तथा व्याकुलता नहीं होगी तब तक वह ईश्वर से कोसों दूर, सँसार की चिन्ता में व्यस्त; सुख-दुख भोगता हुआ जीवन यापन करता रहेगा।

प्रत्येक कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व कुछ दुर्बल विचार (सँसार क्या कहेगा, कोई हँसी न उड़ाये आदि) मस्तिष्क में टकराते हैं अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्रथमबार साधक जिस पथ का अनुसरण करने चलता है तो उसे पहले चिन्ता होती है कि अन्य व्यक्ति उसकी ओर किस दृष्टि से देखते हैं अथवा क्या विचार करते हैं? यह चिन्ता उसकी उन्नति के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा है। जब तक वह सँसार की ओर से दृष्टि नहीं फेर लेता तब तक उसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधक घबड़ा कर अपने गुरू से इन विचारों से पिंड छुड़ाने की याचना करता है। शिक्षक उसे आंतरिक क्रियायें बतलाता है। वे क्रियायें उसे अत्यधिक कठिन प्रतीत होती हैं और थोड़े परिश्रम के उपरांत ही वह घबड़ा जाता है। फल यह होता है कि ईश्वर तक पहुँचना उसे 'तलवार की धार पे धावनों है' के सदृश लगने लगता है। वह एक गुरू छोड़कर दूसरे के पास और दूसरे को छोड़ कर तीसरे के निकट दौड़ता है। इसी दौड़ धूप में उसका पूर्ण जीवन बीत जाता है और गोस्वामी तुलसीदास की निम्न पँक्ति का सत्य दृष्टि गत होने लगता है—'डासत-डासत गई बीत निसा, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।' परन्तु सहज मार्ग

में आ कर साधक की सब दौड़-धूप समाप्त हो जाती है । अपने समर्थ गुरू का आश्रय लेकर धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता है और एक एक दशा का अनुपम सुख लूटता हुआ सँसार से उदासीन हो अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है । उसको इस बात का अभ्यास नहीं करना पड़ता कि वह सँसारिक व्यक्तियों की बातों पर ध्यान न दे अथवा उनसे संबन्ध-विच्छेद कर ले या उनको दृष्टि बचा कर वह पूजा अर्चना करे । सद्गुरू की महान कृपा से यह सब विचार स्वय ही नष्ट हो जाते हैं । वह स्वय साधन करता है और उसकी यही इच्छा रहती है कि सभी संसार से उदासीन हो 'प्रिय' को आत्म-समर्पण कर दें । तथा अनुपम आध्यात्मिक दशाओं के सुख का रसास्वादन करे । वह तस्करों की भाँति कदम नहीं बढ़ाता बल्कि वीरों की भाँति आगे बढ़ता है । वह संसार की दृष्टि बचा कर साधनारत नहीं होता बल्कि सबके सम्मुख साहस के साथ साधन पथ पर अग्रसर होता है । सद्गुरू का पावन एवं वरद हस्त उसके मस्तक पर रहता है और वह निर्भय आगे बढ़ता जाता है । उसके लिये तो संसार में केवल 'एक' रह जाता है अतः वह सब ओर से निश्चिन्त हो जाता है । उसे संसारिक व्यक्तियों की चिन्ता रचमात्र भी नहीं होती । वह अपने में इतना मग्न रहता है कि उसकी दृष्टि कहीं नहीं जाती । वह कैसा है या दूसरे उसके लिये कैसे हैं इस ओर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं । संसार के समस्त कार्यों को वह अपना कर्त्तव्य समझ कर करता है अतः उसे कार्यों का बोझ वहन नहीं करना पड़ता बल्कि कार्य रत रहते हुये भी वह स्वतंत्रता का अनुभव करता है । उसको केवल एक ही चिन्ता रहती है कि कब वह अपने इष्ट में पूर्ण लय हो । इस दशा पर पहुँचने पर ही सूर की 'काली कमरी' पर दूसरा रंग न चढ़ने की उक्ति चरितार्थ हो उठती है ।

जागरण

(श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव एम० ए०)

जाग उठा भारत की धरती ।
अपने हरियाले आंचल में
चंचल झिलमिल मोती भरती ।
बीत गई तूफानी रातें
गरज घुमँड़ वाली बरसातें
शरद चांदनी में नवयुग के
माठे से सपने बिखरती ।
आंखों में फागुन का सोना
भर कर भूली रोना धोना ।
आज सलोने मुख पर कोमल
सत्य शान्ति की छटा छहरती ।
जागो भारत के जन जागो
जागो भू के कण कण जागो
जागो सुन लो पूरब में वह
ऊषा सी आती पुकारती ।

❀ ❀ ❀ ❀

एक साधक समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम का अनुभव करता था, और किसी भी पशु, प्राणी को देखते ही उस से लिपट जाता था ।

उसने एक अन्य उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त साधक से पूछा, "क्या आपको ऐसी स्थिति कभी प्राप्त हुई ।"

श्रेष्ठ साधक ने उत्तर दिया, "स्थितियाँ अनेक प्राप्त हुईं, किन्तु सभी स्थितियाँ क्रियात्मक रूप में परिणत नहीं हुईं । कुत्ते के साथ भोजन करने पर घृणा न होना एक आध्यात्मिक स्थिति है; किन्तु इस स्थिति में सचमुच कुत्तों को खोज कर उनके साथ भोजन करने लग जाना उपर्युक्त स्थिति के प्रति अनावश्यक आसक्ति मात्र है, जो स्वयं आध्यात्मिक विकास में बाधक हो जाती है ।"

प्रार्थना

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

[जिसका चरण स्वयं पृथ्वी है,
अन्तरिक्ष जिसका उदर है,
और द्युलोक जिसका सिर है,
उस परम श्रेष्ठ ब्रम्ह को हम नमस्कार करते हैं ।
जो भूत और भविष्य में
और समस्त सत्ता में अधिष्ठित है ।
और जो स्वर्लोक का एकमात्र स्वामी है
उस परम श्रेष्ठ ब्रम्ह को हम नमस्कार करते हैं ।]

—अथर्ववेद

[For whom the earth is the foot-rest,
And for whom the atmosphere is the abdomen,
Who made the heaven His own head—
To that Supreme Brahman we pay obeisance.
Who presides over the past.
And future and everything.
And to whom alone does heaven belong.
To that Supreme Brahman we pay obeisance.]

—Atharvaveda

Misery-Its beginning & end

(Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. M.)

The man who is born in this world is sure to taste miseries. One cannot escape from it, that is why we try to get rid of these things by going into the penance; and Rishies (Sages) have devoted themselves thoroughly towards it. There is no remedy of overcoming these miseries except devoting overselves towards godly thoughts of purest nature. Our thoughts are scattering the main current like the canals in the river making the river weak. It cannot flow in torrents if so many canals have been dug out from it. The same is the case with us. Our ideas and thoughts always seem to have wings and so they have made weaker the main stream. During Puja we draw in these things and consolidate in one flow. The thought will have the same force from which so many canals have been made. So the process we do is that we go deeper & deeper into the vast expanse. The force of going towards It draws in the water spreading in all corners towards the force of pious thoughts. The result is that the superfluous things scattered come to the main and supreme current which is now to flow towards Almighty-the main goal and place of our destination.

All that is born of attachment is misery. Pain and pleasure both contribute to miseries. "If a man were not born, he would not have been subject to

these miserable states. The condition which causes birth is the force of the will which turns out into the tendency or predisposition to be born. The cause of this tendency is the mental clinging or grasping the object of the world, and this clinging is due to our thirst or craving to enjoy objects, sights, and sound etc. The cause of our desire is our previous experience tinged with pleasant feelings. But sense experience cannot arise but for contact of sense organs with object and this contact again would not arise, had there been no organs of cognition–the five senses and Manas. The six organs depend for their existence on body-mind organism which constitute the perceptible being of man. This organism could not develop in the mother's womb if it were dead or devoid of consciousness but the consciousness which decends into the embryo in the mother's womb is only the effect of impressions (Sanskar) of our past existence. The impressions which we make for rebirth are due to Avidya. If the transitory painful existence of the world were perfectly realised, there would not arise in us any Karma resulting in rebirth." Says Mahatma Buddha.

I perfectly agree with these ideas laid by Gautam Buddha . If we go with full force at our command towards our main goal, the world would itself become a second thought. Go on doing the process of meditation till it is matured. This is the last stage of meditation. When we become one with the real thing, the things following it grow so dark that we do not perceive them. In other words

we become blind in this respect and our vision for the real things improve and we bring it on such a standard that we are lost altogether. When this condition comes, we feel that we are in the state of liberation. If this condition is matured, there is the end of all miseries, no pain, no sorrow, nothing of the sort, no enjoyment and no pleasure. The machinery of body only works producing no impression upon us. In other words, the body becomes an automatic machine which runs in itself according as duties demand. Here is the end of everything and there is no making of Sanskar. Here is the point where we surrender ourselves in toto automatically This is the essence (Tattva) of Bhagwad Geeta. This is the condition which the angels crave for. It is reserved for the human being only. Dear ....., do you not crave for it ? I think every one of us must endeavour to achieve this end. The thing is not as difficult as it seems to be, andt o me it is as simple as anything. Absorbancy in the pious thoughts achieves this goal.

—From a letter to an Abhyasi.

× × × ×

An inquirer:–"How can accidents be explained in view of the omniscience of the Designer of the Universe ?"

The Master:–"First of all be clear in your own mind. If you believe in God's omniscience, then what you call accident was so planned by Him. And if you do not believe in God, then again every event has same cause."

*Sahaj Marga -- Latest Research in Yoga.**

(SHRI ISHWAR SAHAI)

It is a great pleasure to put up before you my views on "SAHAJ MARGA" introduced by His Holiness Shri Ramchandra Ji Maharaj, President, Shri Ram Chandra Mission, who is fortunately present among us this day.

Before taking up the subject I may clear the point that it is not a new religion. Religion consists of beliefs and convictions based on the practical experiences of its great founder. But mere beliefs and convictions do not help us in the solution of our problem of life. For this, we have to take up a life of practicality by which we may have direct experience of everything ourselves. Religion, no doubt induces us to some extent to understand that there is something beyond our present grossest existence which we have to seek for and realise. But for the actual realisation we have to come to the path of spirituality which lies beyond the scope of religion.

Every religion has realisation for its ideal. But realisation does not carry the same sense in all the cases. It differs according to the different conceptions of God taken up by each. The commonly accepted notion of God is that of Supreme Power controlling the universe. This is the final goal of almost every religion. At this level God is considered to be All Powerful possessing all the noble qualities. We call Him as Ishwara, that is God all Powerful and possessing the finest attributes. The Hindu philosophy goes on further taking up the finer conceptions as devoid of attributes, (निर्गुण). Still onwards as devoid of activity, power and even consciousness-the absolute causeless state or Mool Tattva.

Sahaj Marga takes up the farthest view of God–the centre or Zero point or Nonentity. This is provided in the third commandment of Sahaj Marga which runs thus : "Fix up your goal which should be complete Oneness with God. Rest not till the ideal is achieved." Now for this ultimate ideal we have to seek out means suited to our purpose. Religion, with its limited conception cannot in any way lead us up to that Limitless, Infinite Absolute which is beyond everything. For this we have to take up the path of spirituality which is beyond all limitations. The surest path for such a high ideal is only that of Yoga and it is the most efficient one too. Patanjali's Yoga Shastra deals elaborately with the subject. But unfortunately this noble science has ever remained unpopular with the masses. They are for certain reasons, afraid of taking this path. This is due to certain misconceptions which they entertain in their minds. Yoga is

*Text of speech delivered at Sanmarga Theosophical Lodge, Bellary (South India) on 18-5-59.

a very ancient science and was being practised by sages long long ago before Patanjali's Yoga Shastra was introduced. This process, though quite plain & simple has been enshrouded in mystery by the writings and commentaries of subsequent writers who dealt with the subject on the basis of their knowledge and learning, which resulted in further complications and intricacies. Mere theories and arguments cannot explain the technicalities of the system for which a practical approach is essential. Now in place of Patanjali's Yoga we hear about numerous Yogas such as karma Yoga, Bhakti Yoga, etc. each being taken up separately as a complete whole. This is an absolutely wrong view. Really Yoga is one and one alone and Karma, Bhakti & Gyan are all its component factors without which Yoga can never be complete. It may, however, be divided into two sections : the first dealing with its physical aspect and the other with its mental aspect, the former being known as Hatha Yoga and the latter as Raja Yoga. These two sections are made only for the sake of convenience although no such distinction is made by Patanjali nor does he even mention the two names,

Generally Hatha Yoga is considered to be a necessary and unavoidable prelude to Raja Yoga. It may be so to those who take up the path independently, seeking guidance from books or from those who offer guidance on that basis. The Sahaj Marga system offers a simplified course of Yoga which is easily accessible to all and everyone without any distinction of religion, race or nationality.

The chief difficulties commonly faced by people who undertake to follow the path of Yoga are the following:- First of all we are usually given to understand that the path of Yoga is most difficult and impracticable for a man leading a Grahastha (household) life. This is the main reason why people in general are debarred from it. This is quite a wrong notion. Of course Vairagya is quite essential for the pursuit of Yoga. But Vairagya taken up in the sense of forced detachment from home and relations is a mere mockery. Vairagya really means non-attachment with the worldly objects or the absence of the feeling of Maya and Moha. It is only a spiritual state which develops automatically as one proceeds along the right path under the right guidance.

We have come to this world and we owe certain duties to it. We also owe certain divine duties. Shirking of Duty whether in respect of the World or God can have no justification at all. Hence it shall be an unnatural act if we desert dependents, leaving them lamenting over their miserable lot & struggling hard for their very existence.

Sahaj Marga does not uphold this practice. Vairagya in true sense can never be developed by such forced change in outer circumstances. Vairagya can very easily develop if one takes up every thing pertaining to wordly affairs in the form of duty entrusted to him by God and not for the sake of personal interest or the satisfaction of desires. In this way even the worldly actions of ours will

become divine and there will be no undue attachment with any thing of the world.

The grahastha life will thus be no impediment in ones march on the Path of Yoga, Sahaj Marga does not accept Vairagya as a means for the attainment of the Ideal as provided under the four sadhans of Yoga of the Vedantists. The state of Vairagya is in fact the result of Sadhans undertaken for the accomplishment of Yoga and not the means itself.

The next difficulty arises in respect to the Hathayoga Section which emphasises the practice of strenuous exercise of body and mind as a necessary prelude. They may be good so far as preservation of good health is concerned, but their use for awakening the power of chakras and to gain a conscious control over the subconscious activities of sympathetic nerves is not only unnecessary but even harmful in most of the cases. For when our object in awakening the chakras is the gaining of power, it is far away from the idea of subtleness towards which we have to advance for the attainment of the ultimate goal. Moreover power requires a material plane for its action. When power is acquired we necessarily revert to the material plane for the utilization of power. That means we come back to the point from which we had started and that amounts to the degradation of Yoga. The natural result in almost all such cases is the display of miracles or other similar feats. Sahaj Marga warns strictly against such a course.

The cleaning and awakening of chakras is not taken up for gainingpower but for gaining subtleness of existence. Sahaj Marga, therefore, takes a start from Dhyan setting aside all the six preliminary steps of Ashtanga Yoga—thus considerably reducing the course. With this modification in the system, Yoga has now become easier & more practicable to all & everyone in every walk of life.

Another modification which Sahaj Marga makes in the system is in respect of the chakras, which play an important part in the life of the Yogi. The ordinary routine process proceeds in order from the lowest chakra (Muladhar)to the higher one. Under the Sahaj Marga system the start is made not from the Muladhar chakra but from the lotus of heart, which is the central point in the human system. The reason for this modification is that heart being the pumping station sends out purified blood to the whole body. Thus, if we take up heart for meditation the effect of it is carried over to the whole body by the blood flowing out from it. Thus unconsciously the cleaning of the entire body goes on in an automatic way. Another reason for eliminating the lower three chakras in the preliminary course is that they are the centres of the grosser powers connected with matter. Their premature awakening often leads a man to Siddhis and Shaktis which are harmful to orprogress. This modification reduces the entire course to one half.

The real purpose of all these Sadhanas and practices is the control of mind. For this the techers

generally advise means for the suppression of mind by force of will. They treat mind as the worst enemy of man, for it leads him only to evil. This is a wrong view. For, though generally it leads to evil yet it is only this instrument that can lead him to good. It is not the fault of the mind but of the wrong training given to it, for which we ourselves are responsible. As such it is not the suppression of mind that is required for the purpose, for if it is suppressed the seed of evil will remain buried in it and may at any time sprout forth when it finds a favourable field. In my opinion the phrase 'controlling of mind' is not a correct expression. It should be 'remoulding or regulation of mind.' Really we are to regulate it in a way so that its tendencies may be diverted from the evil to that which is good, and worth acquiring. That is all that we have to do; and for this the suppression of mind cannot be of any avail. The Sahaj Marga does not recommend any of the methods involving austerity, penance, restraint or denial for effecting the suppression of mind. It favours the gradual moulding of mind by simple and natural practices supported by the inner power of the teacher.

The special feature of the system is the process of Pranahuti or Yogic transmission. It is a Yogic science by which the master, through his own psychic powers awakens the dorment intuitional forces of the Abhyasi for the proper moulding of the mind in the most natural way, removing all complexities and obstructions therefrom. The great ancient sages of India utillised this wonderful power

for the spiritual uplift of the people, and there are numerous instances of it found in our past history. But due to our present degradation this noble science has been relegated to complete oblivion; and today but a few perhaps may feel inclined even to believe it. They are better acquainted with the baser arts of telepathy and hypnotism, which appeal more to their materialistic understanding and consequently they are led to interpret it as nothing more than hypnotism, without perhaps having any substantial knowledge of either. In Sahaj Marga the divine impulse is impartep through this very process of Pranahuti, the Yogic transmission. This is one of the greatest specialities of the system, which enables a common worldly person to rise upto the highest level of the spiritual attainments in a wonderfully short time, and in the easiest possible way. The practical results achieved through this process offer sufficient proof of the efficiency of the system which everyone is quite welcome to try and experience personally.

Thus with all these modifications and improvements enumerated above Sahaj Marga offers to the world the natural means of realization easily practicable by every man in every walk of life. I do not mean to induce you to believe or disbelieve anything but only to try and experience for yourself and be profitted by this latest research on Yoga.

Thank you for the patient hearing.

❀ ❀ ❀

The Reality of Yoga.

(Shri Raghavendra Rao)

There is much misconception and confusion regarding Yoga. Normally it is conceived as 'union' as opposed to separation—Yoga as opposed to Viyoga. This is a basic misconception arising due to superficial and wayward thinking and also due to the failure to grasp the deep-rooted afflictions of heart.

If we go one step deep in our heart we will at once have a glimpse of the mechanics of union and separation. There we understand that what we had thought to be union with an object, producing pleasure, was in fact not real union but a particular status of thought; and similarly the apparent painful conception of separation was not at all a separation but in fact it was an attachment of thought: another of its status tending to become dynamic.

Having felt the above mechanism of thought & having dwelt at that level of heart, we may proceed to still deeper levels to realise and thereby to master the deeper roots of thought. There we find that it was our thought and thought alone which had created the conceptions of union and separtion with the pleasant things supposed to produce pleasure; and thought itself was all the time actually united with the thing. At this stage the lovers cry and crave for the rememberance of their beloved.

The beloved is pleasant to them in both ways, in union as well as in separation.

For ordinary people it is extremely difficult to go deeper than the above-mentioned stage. Because that condition produces intense ecstasies and man, by himself, will never like to part with it. It is at once so exciting, so thrilling, and so blissful that he who has got it assumes the garb of, or even becomes a lunatic, in order to be free from the external world which appears to him to be an obstruction for his constant intoxication. This is the state of utter intoxication of love. People may and do consider such a one as having attained perfection in Yoga. But this in fact is not the ultimate reality although it is more advanced stage than that of ordinary extroverts.

If a Master of highest attainment intervenes at this stage, it will be possible to go still deeper with his help and grace. Then the exclusive attachment of thought with the idea of beloved causing intense pleasure comes to the realisation of its originality and the idea of beloved and the sensation of pleasure are left behind. The thought is quite naked at this stage. Yet its activity is still there. If one dwells here, or, to be more precise, if one is made to dwell here for a sufficient time he will realise the source which causes the activity of thought. The oneness of the source and its activity is realised more and more clearly. The source is seen simultaneously in both of its phases: the static and the dynamic. The riddle of being and becoming is

solved. Now there is neither Yoganor Viyoga; neither union nor separation. From this point alone the real Yoga starts.

At this stage a Yogi may be considered as really having attained some high status in Yoga. And he is in perfect conformity with Nature. His will or any thought of his becomes the same as the master's. He is really fit to start on the voyage of the Infinite Ocean of the Central Region as described in the book, "EFFICACY OF RAJ YOGA" IN THE LIGHT OF SAHAJ MARGA.

The above picture is sufficient to convince one that almost all the riffraff preached in the name of Yoga from the public platforms is really nothing but the display of confusion, or at the most the parrot-like prattle of nincompoops, having little practical use in the realisation of the Ultimate Reality. They may at the most lead to some form of mechanical forging of thought into the ruts of rites and rituals and other trivialities or into narrow grooves of formalities, orthodoxy, bigotry and fanaticism. In the real Yoga the flow of infinite Divinity is at Its full and there is no stagnation whatsoever. It is ever fresh, ever green and ever present. There is the death of all other deaths and it is a state of deathlessness, utter purity and without sinews. No bondage whatsoever exists here. All the knots are rent assunder. No touch of Maya or Ahankar remains here, for the Yogi has surpassed or transcended or even transformed Maya & has realised the reality of Aham or the Inseparable. This is the culmination of Yoga. ❀❀❀

Indian Philosophy

and

Modern Psychology

[Dr. K. C. VARADACHARI, M. A., Ph. D.]

Introduction:—That Philosophy and Psychology are interrelated and were most intimately interrelated at one time not long ago is a well attested fact. The relationship owes its acceptance to the need for empirical justification of life and indeed all metaphysics whether empirical or rationalistic had to have recourse to the instruments of cognition for arriving at a satisfying concept of reality as a whole.

In a sense we know that earliest philosophies have narrated their experience of the world in terms of sensory reactions and knowledge thus was sensory in character. It was much more significant in Indian Philosophy, where objects of knowledge were invariably said to issue sensorial qualities. Indeed substance and quaility never were separable because knowing is that which cannot exclude itself in the process of knowing the object. The psychological and physiological knowledge assumed by the Ancient Indian philosophers obviously cannot match the detailed analysis of the modern physiologists and indeed in a sense it can be said that it looks just speculative and imaginary

rather than scientific, but it may not be said that it is altogether wrong. It is one of the fundamental beliefs of the practising yogis of India that psychology and physiology have a fundamental working value. This is clear from the writings of Swami Vivekananda, Shri Aurobindo, Shri Ramana and Sri Ram Chandra, and a host of others. They have described the six centres (sat-chakra), the Kundalini and its processes, the Khechari technique and so on. All these involve controversial material for the psychologists, since the psychological appraoch is what is said to yield these results.

The Yoga Institute at Poona has undertaken to explain the physiological basis of the yogic exercises through their publications in their Journal. The philosophical basis for the Yoga techniques has to be clearly understood. Whatever may be the kind of philosophical theory it has been uniformly shewn that all of them, whether Vedic or Avedic, Buddhist or Jaina, had considered that the only way to attain real knowledge for Reality as it is in itself is that yoga is the means by which it could be done. That is whatever may be the techniques utilised for getting at that cognitive awareness of Reality, all aim at that divya-jnana or illuminating awareness, atma-saksatkara, direct presentation by the Self of reality, or unconditioned experience -unconditioned by any of the lower means of knowing or pramanas of sense, reasoning or understanding.

We are not very much concerned with the nature

of Reality that has been arrived at by means of the direct experience, indeed we have different versions and descriptions of the same ultimate experience. It is yet an open question whether they all mean one and the same experience of Reality even as the Advaita has put it–Sat–Cit-Ananda or different phases of the same reality or the hierarchical presentation of the socalled three Supernals or transcendent Realities or the three 'qualities' of the Ultimate Reality, which may all in different senses be true, or even as the Buddhists speak of as Nirvana, negatively, or Isvaridasa of the Jainas.

These are psychologically to be explained and experienced. The consistency with which these are explained by such different kinds of Yogis, differing from each other doctrinally or in dogma, should make us awaken to the necessity to inspect them experimentally. It would be quite obvious that the type of experimenter and type of experiment to be devised should proceed not as it is expected of the modern psychologists in quantitative determinations or even statistically as in ESP but otherwise. This is of course the gravest drawback in trying to experience and experiment in the fields of yoga-psychology. The field of Psycho-physiology has been one in which the method of approach hadresulted especially in the conception of the triple-kinds of constituents, or forces or energies. The conception is dynamic and it was presumed at first that there is a correspondence between the three gunas and the three dhatus which owe their distinct formulation in the field of samkhyan-Upanishadic metaphysics and

Ayurveda. There has been a materialistic or mechanistic interpretation of the three forces constituting the world-activities or Nature. The Bhagavad Gita has indeed given a three fold significance of the triple forces or threads or qualities of Nature, and they form substantially the psychological background of all kinds of approach, typological or even medical. The conception of all elements or organisms as containing all the three forces in some kind of relation in life or existence as a psychical or vital or mental unity is one of profound significance. In medical pharmacopea we have occasions to see that every kind of drug has a threefold character in so far as it affects the mind, the activity and the physical balance of the organism. This has been experimentally recorded in the medical sciences and more so in the Materia-Medica of the Homeopaths. The same can be seen to have exercised the formulation of the Gurdeiff and Ouspenskyan conception of the triple forces.

The physiological and physical life are not quite separate from one another; indeed they belong to the same process of Nature known and understood as the evolution of Prakrti, both in the individualistic and in the collective developments.

Thus the uniformity with which the conception of the triple lines of force which makes existence possible has been accepted in almost all the systems of Indian Philosophy is connected in some way with the psychological development or understanding of Man.

It is however very necessary to remark at once that the original purpose of the Ancient thinkers was not mere knowledge for the sake of knowledge, but it is not possible to deny that some at least of the writings or experiments were done not for the sake of knowledge as such but as a line of curiosity.

II

In the first part of this paper, it has been shewn that Indian Physiology whilst being 'intuitive' perhaps because introspective was by no means without working proof. This should not be treated as merely speculative psychology, for behind it has lain mass of clinical research by the seers of Ayurveda like Caraka, Susruta and others. The Materia Medica also reveals their experimental evidence; & provings have, however, been in the records of the Doctors who have utilised them but not given the methodology of how they came across their intuitive insights.

The psychological part regarding the nature of the functions of Consciousness has played a great deal. The earliest record of the kinds of consciousness that man has, and a survey of their petterns is to be found in the Vedas and Upanishads. A vast field of study had undoubtedly been opened up in the fields of jnana, prajnana, vijnana, samjnana, in the fields of samkalpa, vikalpa, pravritti and in the fields of Vedana, and all kinds of experiences were listed under one or other of the major fields or modes of cousciousness, known to moderns also. Cognition comes near jnana, but there are different kinds of cognition; so also there are states of

conation and will and states of affective responses. Indeed we find that the mind itself is considered to be threefold or even fourfold in which there is preponderence of either the cognitive or volitive-conational or the affective hedonistic or its contrary. All these indeed control the activities of the indriyas, sensory as well as motor. Indeed it is precisely this discrimination between the three kinds of inner sense and organs (antahkarana) that leads to the discovery of the individual as transcending all and working through all these, with all their limitations and conflicting movements. The psychology of Buddhi, Ahamkara and Manas and Citta which together form the antahkarana is a field rich with very many discoveries of the intricate nature of the human consciousness. It is because it was discovered to be the most important task of adhyatma-sastra or the science of the individual in respect of his body and Nature, Indian Psychology has tended to be called unduly psychological. Undoubtedly the method utilized seems to be somewhat similar to wha Bergson counsels in the process of knowing-a kind of in-knowing through raising the inward tension rather than relaxation—which however is capable of being observed intently.

This Psychological examination of the modes of knowing consciousness is further developed to reveal what might be called the field of creative imagination. Consciousness in one of its modes seems to become creative and almost hallucinative. Studies in Yoga Vasista will reveal the immense possibilities of creative art in the field of free

imagination. But it is also seen that such an imagination has the power of lowering the integral nature of being rather than of enhancing it or creating it. The psychological concept of Maya belongs to this field of mind. The very universality of this power revaals that it very much stimulates the so-called universal unconscious of the Modern Psycho-Analytical school, especially of Carl G. Jung.

The field of Dream psychology is in Indian Philosophy also very important. An historical development of this has been presented several years ago in the pages of the Oriental Institute Journal, Tirupati. The metaphysical and magical meanings apart of the states of consciousness, dreams are recognized to be due either to the disorganization of digestion, or taking of certain kinds of drugs, or perseverating effects of waking life, wish fulfilment sexual or otherwise or purely symbolico-mythical. In some cases, it was well recognized to be due to real Extra-sensory knowledge penetrating the dream consciousness as it could not do so in the waking consciousness. Indeed insight which develops or arises in deep sleep must be recognized to be the avenue of Prajna-consciousness- which is said to be more true than either the rajasa or dream or jagrat (waking consciousness).

Modern psychologists are indeed in this field of dream psychology following the path of the ancient thinkers, but are attempting the valuable task of giving statistical truth to them as it seems almost very difficult to arrange experiments for

verifying them. Whilst it is true that almost all ancient thinkers had attempted 'to understand' the processes of experience, modern psychologists are trying 'to explain' that is to say elucidate the causes that are positively discoverable from our normal experience and this method had been fruitful to very great degree. Indeed the cooperation of many types of psychologists is needed for arriving at a clear knowledge of the psychology of the human.

The studies in sleep psychology, not perhaps to be equated with the depth psychology of moderns have been rather a neglected field. It is held by the metaphysicians as well as the yogis to be a kinds of state called prajna, the root cause or nexus or junction of the individual or the cosmic or universal being, where consciousness seems to undergo a change, from being so far a quality to essentiality; one becomes indeed aware of a new awareness. There has been an attempt to go beyond our consciousness in both of its aspects as activity and function, including waking as well as dream-conditions. The earliest statements in this regard had the classic enunciation in the Mandukya Upanisad. In Yoga, it reaches the point of samadhi, when the individual consciousness which had reached its triple manifestation as sleep, dream and waking, with their sensory and sub-sensory manifestations as well as motor and subliminal motor activities, ruturns to a point of intergration or ekayana. The ancient psychologists both Vedantic

and darsanaic and Buddhist and Jaina, have devoted considerable research to this aspect of Dhyana (nididhyasana), though as it was inevitable the metaphysical interpretations or preconceptions or dogmatics should have made objective or scientific explanations fairly impossible.

The acute observations in the field of religious psychology and Art and Music forms have resulted in a vast amount of literature which, however, in the light of modern methods of Psychological approach require to be reconsidered. We cannot forget that between the ancient period and our own there have intervened a scholastic period of codification and dogmatisation that have made it necessary for scholars to recover from the sum of meterial Psychological insights which were not rare at all in them. I take this opportunity of introducing the work of Sri Ramchandraji in the field of spiritual psychology of transformation. Psychologically, it is claimed by him that by his method all his results have been verified by him and his associates. We all know the work undertaken by Sri Aurobindo. It is for the psychologists to undertake such a careful study of the methods and the processes that are said to be operating for the transformation of the total being of the human individual. It cannot be said that it should have the same method of examining as in the case of our objective tests. The integral process is said to be set up when there is a psychic offering of oneself to the postulated Supermental Consciousness or God. The uniformity

with which this downflow of the higher consciousness happens in the individuals who have undertaken this experiment in spiritual transformation, purely out of love for the discovery of the truth of psychology, can vouchsafe a line of enquiry which would in future years be fruitful.

It is claimed that the descent of the higher consciousness is an observed fact whenever the individual totally offers himself to it. This is a modern verification of the ancient method of invoking the transformation of man from the slave that he is to nature or the cycle of births and deaths, to the status of master of that process, as envisaged by the school of Ramanuja-Yamuna. But more important is the considerable amount of literature of the ancients who consider that this can be got by the practice of jijnasa or enquiry into the nature of one's states of consciousness and of oneself. Still more important is the process by which spiritual conversion takes place by a profound inspiration or intuition into the nature of Reality, and the spiritual 'transmission' of spiritual energy into the individual which makes his intuition not a momentary glimpse but a profound life-view and value.

It is the merit of Sri Ramachandraji's technique of spiritual 'transmission' that it is something that can be experimentally demonstrated, to one who seeks to know the truth of psychology of the spiritual life.

It is a very important question yet to assess

the value of Indian Psychological facts, in terms of our modern methods of approach which demand laboratory methods. Precisely it would be agreed that the laboratories of psychical and spritual Research would have to be modelled on different conceptions than the Collegiate and western mechanistic methods. They would have to a certain extent imply the special preparation on the part of the experimenters which are generally described as 'moral preparations' but which can be shewn to be physico-vital-mental preparations. There is no doubt that there is needed earnestness and resourcefulness and openness and sensitivity to the meterial that might have to be dealt with. Objectivity is as much a necessity in this regard as in the so-called positive sciences but it would be a different type of objectivity in so far as it is the individual's experiences that have to be reported or noted and his total behaviour towards others and the physical world be observed. A remark by Swami Vivekananda illustrates this point : "he who enters into samadhi returns out of it as a sage". An inspection in this regard is obviously the duty of the psychologist to make, and we may well have to explain what constitutes the personality called a sage.

Modern Psychology by which I shall mean Psychology that demands laboratory methodology of explanation and verification of earlier hypotheses by devising more exact methods can have success in India provided we take care to keep before our mind the conception of the integral nature of the

human being rather than the ideal of mechanistic explanation. The naturalness of the spiritual phenomena can be grasped only in the context of the natural environment to which the spiritual individual belongs.

The spiritual obsession of the Indian seeker after reality for freedom may ill go together with the demand for psychological experimentation of his states and behaviour in the laboratory. But it is not such a serious objection provided it is fully realized that knowledge of the spiritual has its own reward. ❀ ❀ ❀

References:—

1-108 Upanishads :

2-Caraka Samhita

3-Susruta.

4-Brajendranath Leal: Positive Sciences of the Hindus.

5-P. C. Roy : History of Indian Chemistry.

6-K. C. Varadachari : Yoga-Psychology in the Minor Upanishads. JSVOI

7- ,, Dream Psychology in Shri Ramanuja's Philosophy ISVOI: I vol. 1939-47.

8-Sat-Chakra-Nirupana : Arthur Avalon.

9-Yoga-Sutras of Patanjali: ed. tr. Swami Vivekananda

10-Synthesis of Yoga: Sri Aurobindo & other works

11-Efficacy of Raj Yoga: Shri Ramchandra Ji (Shahjahanpur)

12-Science of the Emotions: Babu Bhagavan Das.

13-Yoga-Vasista , Philosophy of : B. L. Atreya.

14-Yoga Mimamsa: Poona Yoga Institute of Yogendra

15-Mysterious Kundalini : Vasant Rele.

16-R. V. Seshaiya : The Mystery of the Unborn : (Rajah Sir Annamalai commemoration volume :

17-Indian Psychology-Perception. J. N. Sinha (Kegan Paul).

× × ×

Experiences of an Abhyasi.

[Under this permanent column, the personal experiences of the Abhyasis of our system of Sadhana are published. The names of the Abhyasis, however, are not published with a view to exercising a check over the natural tendency to indulging in selfpraise, while giving personal experiences. The Abhyasis are requested to try to emphasise only such matters & events, while writing for this column, as may be helpful in throwing light on the special characteristics of our system of Sadhana. Editor]

As a child I was fond of hearing Puranas and Ittihasas recited by the learned Pandits. These recitals sowed the first seed of devotion in my heart.

I had a younger brother, who lived for about a year. The child was suffering and gasping for breath. It would not take any food or medicine. We were all sitting around it helpless. Just then a Sadhu appeard there and asked us as to what was the matter. Understanding our plight he asked us for a spoonful of milk which he administered to the child. Miraculously the child drank it. The Sadhu blessed us stating that our family had some Divine connection. He said that the child had to complete the Bhoga of some Karmas and that he had to relieve the child of the same. Then he left us. After some moments the child gasped for breath and I was asked to search for the Sadhu. The Sadhu could not have gone far, with in these few moments and yet my search was in vain. We concluded

that only a miracle should have happened.

As a youth, I wanted to worship God through Mantras and Yanthras, and I wanted to fix my ideas about the form in which I should worship Him, viz., Lord Vinayaka, Subrahmanya, Anjaneya or Sakthi Devi. So I contacted the persons who had real experience in that field, and who were doing that "Sadhan." But none of them was willing to reveal the secret of his Sadhan. Fortunately, the grand-father of one of my friends was a real devotee of this nature and he was able to give me some of the collections of his grand-father, though he could not himself put me in the right way. With his help I selected the method of worshipping "Omkar Ganpathi", He being No. 1 deity in our daily worship. I performed the Pujas and Tapas as per instructions with true love and devotion, daily for a prescribed period in a special manner and then on in the ordinary way.

My daily prayer to Lord Ganesa was to accept my Puja despite all the imperfections which unwittingly I was committing and to bless me and also to guide me in the proper worship of Him.

After some months of worship, a shadowy figure began to appear in my dreams and concentrations and thoughts. It was formless and shapeless. I thought that there was some mistake in my performance of the Puja which prevented the form from taking a concrete shape. The people whom I approached for proper guidance could not understand

me and throw proper light.

After some years I was attracted by Yoga Asanas and did the Asanas and Pranayams under the guidance of an expert for nearly 7 years. I read a lot of Yogic literature and about Yogis & I wanted to contact one for a better understanding and advancement in that field. I was not attracted towards the philosophers or the Puranikas nor was I attracted towards a great one who was popular throughout India and other parts of the world. My mind constantly hankered after the proper Guru; and in my vexation I would have turned into an atheist but for my inner mind which firmly restrained me.

By Divine Grace one day I met a "Siddha" at my friend's house. I was immediately attracted towards him. He had a picture of Lord Ganesa by his side and 'Shiva Bhasya' in his right hand. While giving it to me he said "you have come to me in search of 'Divine knowledge' but I am not empowered to impart the same. You will certainly get It from a proper Master who is specially empowered in this matter. He will come to you of his own accord at the proper time when you attain such and such an age. But your idea of getting it in this bachelor life will not be fulfilled. You have to enter into the family life and do your Karmas". He also predicted my whole life and cleared many of my doubts even without my expressing the same. He told me that I was not doing the Puja to Lord Ganesa in the right manner. He showed me the

to you already, come to you ?". I wondered at his question, and I explained to him everything in detail. Then he said that he had seen both myself and my master jointly in his "Vision", when he was in Bombay. He immediately told me that my master is a great "Raja Yogi" and instructed me to follow him with sincere love and devotion. He came to my house later and offered Puja to our master's photo and asked my family members also to worship him as he is an extraordinary one in human form to enlighten the mass. Even now, whenever he comes to my house he never fails to offer Puja to the master's photo and to encourage us by his words telling about Him.

Greatness in heart and simplicity in action, love to every one even though any one showed him disrespect, explaining the great things which confuse our minds in a very simple way, moving friendly and moderately to everyone, never failing to help one who seeks his help, helping everytime whenever his help is called for—such are the qualities which he had so far revealed. His greatness however has not been completely fathomed. Our knowledge of him is very limited. We can understand him only by diluting ourselves in Him. I pray to Him that He will be kind enough to allow this poor self also to get merged in His self completely without any sort of separate existence for ever.

—An Abhyasi

× × ×

'सहज-मार्ग' पत्रिका के नियम

—:❀❀:—

१—'सहज मार्ग' प्रति वर्ष चारबार चैत्र, आषाढ़, अश्विन, पौष अथवा मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होता है ।

२—'सहज मार्ग का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है ।

३—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं कहानियाँ आदि का विषय मुख्यतः आध्यात्मिक एवं सांकृतिक होना चाहिए ।

४—लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा । लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा ।

५—प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा रोमन लिपि में कागज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे या टाइप किये हुए होने चाहिये ।

६—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नाँकित पते पर भेजे जाने चाहिये:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन महराजनगर,
लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

७—'सहज मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं । विज्ञापन की दर निम्नलिखित हैं:-

कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०)	आधा १०)
	चौथाई ६)

८—'सहज मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
1-Efficacy of Rajyoga by Shri Ramchandra Ji	*Shahjahanpur (U.P)*	(रू० नयेपैसे) *2-50*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50*
३-सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम्	
(Reality at Dawn in Tamil translation by A. Balasubramaniam)		1-50
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर (उ० प्र०)	१-५०
५-अनन्त की ओर	,, ,,	१-००
६-गुरु सन्देश	,, ,,	०-२५
७-सहज समाधि	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर–खीरी (उ० प्र०)	०-२५
८-'सहज मार्ग'-पत्रिका की फ़ाइल (द्वितीय वर्ष)	अजिल्द सजिल्द	३-०० ३-५०

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

Premraj Press, Hospital Road, LAKHIMPUR.